पुस्तक मिल[illegible]

श्रीआत्मानन्द जैन पु[illegible] मंडल

रोशन मोहल्ला,



Raja Bejoy Sing Dudhoria of Azimganj



Raja Bejoy Sing Dudhoria of Azimganj

ग्रन्थ-क्रम.

पृ०

※ सूचना ※

इस पुस्तक के आरम्भ में जिन महानुभाव का फोटो है वे जैनसमाज के श्रीमानों में से एक हैं। वे आज़ीमगंज के प्रतिष्ठित रईस हैं। कर्मग्रन्थ के इस अनुवाद में उनकी उदारता का उपयोग किया गया है। एतदर्थ हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। आगे के कर्मग्रन्थों के अनुवाद तैयार हो रहे हैं तथा छप भी रहे हैं। इस लिये जो, भगवान् महावीर की वाणी के उपासक अपनी चञ्चल लक्ष्मी का सदुपयोग करना चाहें वह हमें सूचना देवें जिससे कि पवित्र ग्रन्थों के सर्वप्रिय अनुवाद-कार्य में उन की लक्ष्मी का उपयोग किया जावे। इस का मूल्य लागत से भी कुछ कम ही रक्खा गया है। कागज, छपाई आदि सब वस्तुओं की अति अधिक महँगी के कारण खर्च अधिक होता है। हमारा उद्देश सस्ते में धार्मिक साहित्य का प्रचार करना है। जहाँ तक संभव है हम अपने उद्देश की ओर पूर्ण लक्ष देते हैं।

श्रीआत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल रोशन मोहल्ला आगरा.

आप का—
मंत्री.

निवेदन।

पाठक! यह दूसरे कर्मग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मूल तथा छाया सहित आपकी सेवामें उपस्थित किया जाता है। पहिले कर्मग्रन्थ के बाद दूसरे कर्मग्रन्थ का अध्ययन परमावश्यक है। क्योंकि इस के बिना पढ़े तीसरा आदि अगले कर्मग्रन्थोंमें तथा कम्मपयडी, पञ्चसंग्रह आदि आकर ग्रन्थों में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता। इस लिये इस कर्मग्रन्थ का भी महत्त्व बहुत अधिक है। यद्यपि इस कर्मग्रन्थ की मूल गाथायें सिर्फ़ चौतीस ही हैं तथापि इतने में प्रचुर विषय का समावेश ग्रन्थकार ने किया है। अत एव परिमाण में ग्रन्थ बड़ा न होने पर भी विषय में बहुत गंभीर तथा विचारणीय है।

इस अनुवाद के आरंभ में एक प्रस्तावना दी हुई है जिस में दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना का उद्देश्य, विषय-वर्णन-शैली, विषय-विभाग, 'कर्मस्तव' नाम रखने का अभिप्राय इत्यादि विषय, जिन का सम्बन्ध दूसरे कर्मग्रन्थसे है, उन पर थोड़ा, पर आवश्यक विचार किया गया है। पीछे गुणस्थान के सामान्य स्वरूपके सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार प्रगट किये गये हैं। बाद विषयसूची दी गई है, जिससे ग्रन्थके विषय, गाथा और पृष्ठ वार मालूम हो सकते हैं। अनन्तर शुद्धिपत्र है। तत्पश्चात् मूल, छाया, हिंदी अर्थ तथा भावार्थ सहित 'कर्मस्तव' नामक

दूसरा कर्मग्रन्थ है। इस में योग्यस्थानों में यन्त्र—नकशे—भी दिये गये हैं। इस के बाद एक परिशिष्ट है जिस में श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय कर्मविषयक साहित्य के कुछ समान तथा असमान बातें उल्लिखित की हुई हैं। परिशिष्ट के बाद कोश दिया गया है.जिस में मूल दूसरे कर्मग्रंथके शब्द, अकारादि क्रमसे देकर उनकी छाया तथा हिंदी अर्थ दिया गया है। अंत में गाथायें हैं, जो मूल मात्र याद करने वालों के लिये या उसे देखने वालों के लिये विशेष उपयोगी हैं।

यदि इस ग्रन्थके अनुवाद में कोई त्रुटि रह गई हो तो विशेषदर्शी पाठकों से हम अनुरोध करते हैं कि वे कृपया उस की सूचना देवें ताकि दूसरी आवृत्ति में संशोधन किया जा सके

निवेदक—

वीरपुत्र.

ॐ

प्रस्तावना ।

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य ।

'कर्मविपाक' नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। उस में बन्ध-योग्य, उदय-उदीरणा-योग्य और सत्तायोग्य प्रकृतियों की जुदी जुदी संख्या भी दिखलाई गई है। अब उन प्रकृतियों के बन्ध की उदय-उदीरणा की और सत्ता की योग्यता को दिखाने की, आवश्यकता है। सो इसी आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से इस दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना हुई है।

विषय-वर्णन-शैली ।

संसारी जीव गिनती में अनन्त हैं। इसलिए उनमें से एक एक व्यक्ति का निर्देश करके उन सब की बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाना असंभव है। इसके अतिरिक्त

दूसरा कर्मग्रन्थ है। इस में योग्यस्थानों में यन्त्र—नकशे—भी दिये गये हैं। इस के बाद एक परिशिष्ट है जिस में श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय कर्मविषयक साहित्य के कुछ समान तथा असमान बातें उल्लिखित की हुई हैं। परिशिष्ट के बाद कोश दिया गया है. जिस में मूल दूसरे कर्मग्रंथके शब्द, अकारादि क्रमसे देकर उनकी छाया तथा हिंदी अर्थ दिया गया है। अंत में गाथायें हैं, जो मूल मात्र याद करने वालों के लिये या उसे देखने वालों के लिये विशेष उपयोगी हैं।

यदि इस ग्रन्थके अनुवाद में कोई त्रुटि रह गई हो तो विशेषदर्शी पाठकों से हम अनुरोध करते हैं कि वे कृपया उस की सूचना देवें ताकि दूसरी आवृत्ति में संशोधन किया जा सके

निवेदक—

वीरपुत्र.

प्रत्येक गुणस्थान-वर्ती जीवों की बन्ध-योग्यता को दिखाया है। इसी प्रकार उदयाधिकार में, उनकी उदय-सम्बन्धिनी योग्यता को, उदीरणाधिकार में उदीरणा-सम्बन्धिनी योग्यता को और सत्ताधिकार में सत्ता-सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाया है। उक्त ४ अधिकारों की घटना, जिस वस्तु पर की गई है, उस वस्तु—गुणस्थान-क्रम—का नाम-निर्देश भी ग्रन्थ के आरम्भ में ही कर दिया गया है। अतएव, इस ग्रन्थ का विषय, पांच भागों में विभाजित हो गया है। सब से पहले, गुणस्थान-क्रम का निर्देश और पीछे क्रमशः पूर्वोक्त चार अधिकार।

'कर्मस्तव' नाम रखने का अभिप्राय।

आध्यात्मिक विद्वानों की दृष्टि, सभी प्रवृत्तियों में आत्मा की ओर रहती है। वे, करें कुछ भी पर उस समय अपने सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित किये होते हैं कि जिससे उन के आध्यात्मिक महत्त्वाभिलाष पर जगत् के आकर्षण का कुछ भी असर नहीं होता। उन लोगों का अटल विश्वास होता है कि 'ठीक ठीक लक्षित दिशा की ओर जो जहाज चलता है वह, बहुत कर विघ्न बाधाओं का शिकार नहीं होता।' यह विश्वास, कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्य में भी था। इस से उन्हों ने ग्रन्थ-रचना-विषयक प्रवृत्ति के समय भी महान् आदर्श को अपनी नज़र के सामने रखना चाहा। ग्रन्थकार की दृष्टि में आदर्श थे भगवान् महावीर। भगवान् महावीर के जिस कर्मक्षयरूप असाधारण गुण पर ग्रन्थकार मुग्ध हुए थे उस गुण को उन्होंने अपनी कृति द्वारा दर्साना चाहा। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना उन्होंने अपने आदर्श भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से की है। इस ग्रन्थ में मुख्य

एक व्यक्ति में बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता भी सदा एकसी नहीं रहती; क्योंकि परिणाम व विचार के बदलते रहने के कारण बन्धादि-विषयक योग्यता भी प्रतिसमय बदला करती है। अतएव आत्मदर्शी शास्त्रकारों ने देहधारी जीवों के १४ वर्ग किये हैं। यह वर्गीकरण, उनकी आभ्यन्तर शुद्धिकी उत्क्रान्ति-अपक्रान्ति के आधार पर किया गया है। इसी वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं। गुणस्थान का यह क्रम, ऐसा है कि जिसके १४ विभागों में सभी देहधारी जीवों का समावेश हो जाता है जिससे कि अनन्त देहधारिओं की बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को १४ विभागों के द्वारा बतलाना सहज हो जाता है और एक जीव व्यक्ति की योग्यता—जो प्रतिसमय बदला करती है—उसका भी प्रदर्शन किसी न किसी विभाग के द्वारा किया जा सकता है। संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भावकी पूरी वैज्ञानिक जाँच करके गुणस्थान-क्रम की घटना की गई है। इससे यह बतलाना या समझना सहज हो गया है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या शुद्धिवाला जीव, इतनी ही प्रकृतियों के बन्ध का, उदय-उदीरणा का और सत्ता का अधिकारी हो सकता है। इस कर्म-ग्रन्थ में उक्त गुणस्थान क्रम के आधार से ही जीवों की बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को बतलाया है। यही इस ग्रन्थ की विषय वर्णन शैली है।

विषय-विभाग।

इस ग्रन्थ के विषय के मुख्य चार विभाग हैं (१) बन्धाधिकार (२) उदयाधिकार, (३) उदीरणाधिकार और (४) सत्ताधिकार। बन्धाधिकार में गुणस्थान क्रम को लेकर

शब्द रखा जाय, मतलब एक ही है। परन्तु इस जगह इसकी चर्चा, केवल इसीलिए की गई है कि प्राचीन दूसरे कर्मग्रन्थ के और गोम्मटसार के दूसरे प्रकरण के नाम में कुछ भी फ़रक नहीं है। यह नाम की एकता, श्वेतांबर-दिगंबर आचार्यों के ग्रन्थ-रचना-विषयक पारस्परिक अनुकरण का पूरा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाम सर्वथा समान होने पर भी गोम्मटसार में तो 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल विलक्षण है, पर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ में तथा उसकी टीका में 'स्तव' शब्द के उस विलक्षण अर्थ की कुछ भी सूचना नहीं है। इस से यह जान पड़ता है कि यदि गोम्मटसार के बन्धोदयसत्त्व-युक्त नाम का आश्रय लेकर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ का यह नाम रखा गया होता तो उसका विलक्षण अर्थ भी इस में स्थान पाता। इससे यह कहना पड़ता है कि प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना, गोम्मटसार से पूर्व हुई होगी। गोम्मटसार की रचना का समय, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी बतलाया जाता है। प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का समय तथा उसके कर्ता का नाम आदि ज्ञात नहीं। परन्तु उसकी टीका करने वाले श्री गोविन्दाचार्य हैं जो श्री देवनाग के शिष्य थे। श्री गोविन्दाचार्य का समय भी संदेह की तह में छिपा है पर उनकी बनाई हुई टीका की प्रति-जो वि०सं० १२८८ में ताडपत्र पर लिखी हुई है-मिलती है। इस से यह निश्चित है कि उन का समय, वि० सं० १२८८ से पहले होना चाहिए। यदि अनुमान से टीकाकार का समय १२ वीं शताब्दी माना जाय तो भी यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं कि मूल द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना उससे सौ-दोसौ वर्ष पहले

वर्णन, कर्म के बन्धादिका है, पर वह किया गया है स्तुति के बहाने से। अतएव, प्रस्तुत ग्रन्थ का अर्थानुरूप नाम 'कर्मस्तव' रखा गया है।

ग्रन्थ-रचना का आधार।

इस ग्रन्थ की रचना 'प्राचीन कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के आधार पर हुई है। उसका और इस का विषय एक ही है। भेद इतना ही है कि इस का परिमाण, प्राचीन कर्मग्रन्थ से अल्प है। प्राचीनमें ५५ गाथाएँ हैं, पर इसमें ३४। जो बात प्राचीन में कुछ विस्तार से कही है उसे इसमें परिमित शब्दों के द्वारा कह दिया है। यद्यपि व्यवहार में प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम, 'कर्मस्तव' है, पर उसके आरंभ की गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम, 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त स्तव' है। यथाः—

> नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनाणदंसणपईवे।
> बंधुदयसंतजुत्त वोच्छामि थयं निसामेह ॥१॥

प्राचीन के आधार से बनाये गये इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने इस ग्रन्थ के किसी भाग में उल्लिखित नहीं किया है, तथापि इसका 'कर्मस्तव' नाम होने में कोई संदेह नहीं है। क्योंकि इसी ग्रन्थ के कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने रचे तीसरे कर्मग्रन्थ के अन्त में 'नेयं कम्मत्थयं सोउं' इस अंश से उस नाम का कथन कर ही दिया है।

'स्तव' शब्द के पूर्व में 'बन्धोदयसत्त्व' या 'कर्म' कोई भी

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।
वण्णणसत्थं थयथुइधम्मकहा होइ णियमेण ॥

(गो. कर्म. गा. ८८)

अर्थात् किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तव' कहाता है । एक अंग का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तुति' और एक अंग के किसी अधिकार का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र 'धर्मकथा' कहाता है ।

इस प्रकार विषय और नामकरण दोनों तुल्यप्राय होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदाय-भेद तथा ग्रन्थ-रचना-सम्बन्धी देश-काल के भेद का परिणाम जान पड़ता है ।

गुणस्थान का संक्षिप्त सामान्य-स्वरूप ।

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञान-पूर्ण होती है । वह अवस्था सब से प्रथम होने के कारण निकृष्ट है । उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास की बदौलत निकलता है, और धीरे धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णकला—अन्तिम हद—को पहुँच जाता है । पहली निकृष्ट अवस्था से निकल कर, विकास की आखरी भूमि को पाना ही आत्मा का परम साध्य है । इस परम साध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के

ही होनी चाहिए। इससे यह हो सकता है कि कदाचित् उस द्वितीय कर्मग्रन्थ का ही नाम गोम्मटसार में लिया गया हो और स्वतंत्रता दिखाने के लिए 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल बदल दी गई हो। अस्तु, इस विषय में कुछ भी निश्चित कहना साहस है। यह अनुमान-सृष्टि, वर्तमान लेखकों की शैली का अनुकरण मात्र है। इस नवीन द्वितीय कर्मग्रन्थ के प्रणेता श्रीदेवेन्द्रसूरि का समय आदि पहले कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना से जान लेना।

गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का साङ्केतिक अर्थ

इस कर्मग्रन्थ में गुणस्थान को लेकर बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया है वैसे ही गोम्मटसार में भी किया है। इस कर्मग्रन्थ का नाम तो 'कर्मस्तव' है पर गोम्मटसार के उस प्रकरण का नाम 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त-स्तव' जो "बन्धुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे थवं वोच्छं" इस कथन से सिद्ध है (गो. कर्म गा. ८७)। दोनों नामों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि कर्मस्तव में जो 'कर्म' शब्द है उसी की जगह 'बन्धोदयसत्त्वयुक्त' शब्द रखा गया है। परन्तु 'स्तव' शब्द दोनों नामों में समान होने पर भी, उस के अर्थ में बिलकुल भिन्नता है। 'कर्मस्तव' में 'स्तव' शब्द का मतलब स्तुति से है जो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है पर गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का स्तुति अर्थ न करके खास सांकेतिक अर्थ किया गया है। इसी प्रकार उसमें 'स्तुति' शब्द का भी पारिभाषिक अर्थ किया है जो और कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसेः—

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।
वराणणसत्थं थयथुइधम्मकहा होइ णियमेण ॥

(गो. कर्म. गा. ८८)

अर्थात् किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तव' कहाता है। एक अंग का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तुति' और एक अंग के किसी अधिकार का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र 'धर्मकथा' कहाता है।

इस प्रकार विषय और नामकरण दोनों तुल्यप्राय होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदाय-भेद तथा ग्रन्थ-रचना-सम्बन्धी देश-काल के भेद का परिणाम जान पड़ता है।

गुणस्थान का संक्षिप्त सामान्य-स्वरूप।

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञान-पूर्ण होती है। वह अवस्था सब से प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास की बदौलत निकलता है, और धीरे धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णकला—अन्तिम हद—को पहुँच जाता है। पहली निकृष्ट अवस्था से निकल कर, विकास की आखरी भूमि को पाना ही आत्मा का परम साध्य है। इस परम साध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के

बाद तीसरी ऐसी क्रमिक अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणि को 'विकास-क्रम' या 'उत्क्रान्ति-मार्ग' कहते हैं; और जैनशास्त्रीय परिभाषा में उसे 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं। इस विकास-क्रम के समय होने वाली आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप १४ भागों में कर दिया गया है। ये १४ भाग, गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर-साहित्य में 'गुणस्थान' अर्थ में संक्षेप, ओघ, सामान्य और जीवसमास शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा—इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक रहती है। विकास की न्यूनाधिकता का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है। स्थिरता, समाधि, अन्तर्दृष्टि, स्वभाव-रमण, स्वोन्मुखता—इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र-शक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शन-शक्ति का जितना अधिक विकास, जितनी अधिक निर्मलता उतना ही अधिक आविर्भाव सद्विश्वास, सद्रुचि, सद्भक्ति, सत्श्रद्धा या सत्याग्रह का समझिये। दर्शन-शक्ति के विकास के बाद चारित्र-शक्ति के विकास का नम्बर आता है। जितना जितना चारित्र-शक्ति का अधिक विकास उतना उतना अधिक आविर्भाव क्षमा, संतोष, गाम्भीर्य इन्द्रिय-जय आदि चारित्र गुणों का होता है। जैसे जैसे दर्शन-शक्ति व चारित्र शक्ति की विशुद्धि बढ़ती जाती है, तैसे तैसे स्थिरता की मात्रा भी अधिक अधिक होती जाती है। दर्शन व चारित्र-शक्ति की विशुद्धि का बढ़ना-घटना, उन शक्तियों के प्रति-

बन्धक (रोकनेवाले) संस्कारों की न्यूनता-अधिकता या मन्दता-तीव्रता पर अवलम्बित है। प्रथम तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति का विकास इसलिये नहीं होता कि उनमें उन शक्तियों के प्रतिबन्धक संस्कारों की अधिकता या तीव्रता है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में वे ही प्रतिबन्धक संस्कार कम (मन्द) हो जाते हैं; इससे उन गुणस्थानों में शक्तियों का विकास आरम्भ हो जाता है।

इन प्रतिबन्धक (कषाय) संस्कारों के स्थूल दृष्टि से ४ विभाग किये हैं। ये विभाग उन काषायिक संस्कारों की विपाक-शक्ति के तरतम-भाव पर आश्रित हैं। उनमें से पहला विभाग—जो दर्शन-शक्ति का प्रतिबन्धक है—उसे दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कहते हैं। शेष तीन विभाग चारित्र-शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। उनको यथाक्रम अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते हैं।

प्रथम विभाग की तीव्रता, न्यूनाधिक प्रमाण में तीन गुणस्थानों (भूमिकाओं) तक रहती है। इस से पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन शक्ति के आविर्भाव का सम्भव नहीं होता। कषाय के उक्त प्रथम विभाग की अल्पता, मन्दता या अभाव होते ही दर्शन-शक्ति व्यक्त होती है। इसी समय आत्मा की दृष्टि खुल जाती है। दृष्टि के इस उन्मेष को विवेक-ख्याति, भेदज्ञान, प्रकृति-पुरुषान्यता-साक्षात्कार और ब्रह्मज्ञान भी कहते हैं।

इसी शुद्ध दृष्टि से आत्मा जड़-चेतन का भेद, असंदिग्ध-रूप से जान लेता है। यह उसके विकास-क्रम की चौथी भूमिका है। इसी भूमिका से वह अन्तर्दृष्टि बन जाता है, और आत्म मंदिर में वर्तमान तात्त्विक परमात्म-स्वरूप को देखता है। पहले की तीन भूमिकाओं में दर्शनमोह और अनन्तानु-

न्धी नाम के कषाय संस्कारों की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्म-भाव को देख नहीं सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शनमोह आदि संस्कारों के वेग के कारण उस समय उसकी दृष्टि, इतनी अस्थिर व चंचल बन जाती है कि जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्म-स्वरूप या ईश्वरत्व को देख नहीं सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है, परन्तु है वह अत्यन्त सूक्ष्म: इसलिये स्थिर व निर्मल दृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथी भूमिका या चौथे गुणस्थान को परमात्म भाव के या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार कहना चाहिये। और उतनी हद तक पहुँचे हुये आत्मा को अन्तरात्मा कहना चाहिये। इसके विपरीत, पहली तीन भूमिकाओं में वर्तने के समय, आत्मा को बहिरात्मा कहना चाहिये। क्योंकि वह उस समय बाहरी वस्तुओं में ही आत्मत्व की भ्रान्ति से इधर उधर दौड लगाया करता है। चौथी भूमिका में दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी संस्कारों का वेग तो नहीं रहता, पर चारित्र-शक्ति के आवरण भूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। उनमें से अप्रत्याख्याना-वरण संस्कार का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं होता इससे पाँचवी भूमिका में चारित्र शक्ति का प्राथमिक विकास होता है, जिससे उस समय आत्मा, इन्द्रिय-जय, यम-नियम आदि को थोड़े बहुत रूपमें करता है—थोड़े बहुत नियम पालने के लिये सहिष्णु हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण नामक संस्कार—जिनका वेग पाँचवीं भूमिका से आगे नहीं है—उन का प्रभाव घटते ही चारित्र-शक्ति का विकास और भी बढ़ता है, जिससे आत्मा बाहरी भोगों से हटकर पूरा संन्यासी बन जाता है। यह हुई विकास की छट्ठी भूमिका। इस भूमिका में भी चारित्र-शक्ति के विपक्षी 'संज्वलन' नाम के संस्कार कभी कभी ऊधम मचाते हैं, जिससे चारित्र-शक्ति का

विकास दबता तो नहीं, पर उसकी शुद्धि या स्थिरता में अन्तराय इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार वायु के वेग के कारण, दिये की ज्योति की स्थिरता व अधिकता में। आत्मा जब 'संज्वलन' नामके संस्कारों को दबाता है, तब उत्क्रान्तिपथ की सातवीं आदि भूमिकाओं को लाँघकर ग्यारहवीं बारहवीं भूमिका तक पहुँच जाता है। बारहवीं भूमिका में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जिससे उक्त दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। तथापि उस अवस्था में शरीर का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता परिपूर्ण होने नहीं पाती। वह चौदहवीं भूमिका में सर्वथा पूर्ण बन जाती है और शरीर का वियोग होने के बाद वह स्थिरता, वह चारित्र-शक्ति अपने यथार्थ-रूपमें विकसित होकर सदा के लिये एकसी रहती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है—

> मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
> अज्ञान हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥
> (शिवगीता–१३-३२)

यह विकास की पराकाष्ठा, यह परमात्म-भाव का अभेद, यह चौथी भूमिका (गुणस्थान) में देखे हुये ईश्वरत्व का तादात्म्य, यह वेदान्तियों का ब्रह्म-भाव, यह जीव का शिव होना, और यही उत्क्रान्ति-मार्ग का अन्तिम साध्य। इसी साध्य तक पहुँचने के लिये आत्मा को विरोधी संस्कारों के साथ लड़ते झगड़ते, उन्हें दबाते, उत्क्रान्ति-मार्ग की जिन जिन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, उन भूमिकाओं के क्रम को ही 'गुणस्थान क्रम' समझना चाहिये। यह तो हुआ गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप। उन सब का विशेष स्वरूप थोड़े बहुत विस्तार की साथ इसी कर्मग्रन्थ की दूसरी गाथा की व्याख्या में लिख दिया गया है।

निवेदक—वीर.

न्धी नाम के कषाय संस्कारों की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्म-भाव को देख नहीं सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शनमोह आदि संस्कारों के वेग के कारण उस समय उसकी दृष्टि, इतनी अस्थिर व चंचल बन जाती है कि जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्म स्वरूप या ईश्वरत्व को देख नहीं सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है, परन्तु है वह अत्यन्त सूक्ष्म: इसलिये स्थिर व निर्मल दृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथी भूमिका या चौथे गुणस्थान को परमात्म भाव के या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार कहना चाहिये। और उतनी हद तक पहुँचे हुये आत्मा को अन्तरात्मा कहना चाहिये। इसके विपरीत, पहली तीन भूमिकाओं में वर्तने के समय, आत्मा को बहिरात्मा कहना चाहिये। क्योंकि वह उस समय बाहरी वस्तुओं में ही आत्मत्व की भ्रान्ति से इधर उधर दौड़ लगाया करता है। चौथी भूमिका में दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी संस्कारों का वेग तो नहीं रहता, पर चारित्र शक्ति के आवरण भूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। उनमें से अप्रत्याख्यानावरण संस्कार का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं होता इससे पाँचवीं भूमिका में चारित्र शक्ति का प्राथमिक विकास होता है, जिससे उस समय आत्मा, इन्द्रिय-जय, यम-नियम आदि को थोड़े बहुत रूप में करता है—थोड़े बहुत नियम पालने के लिये सहिष्णु हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण नामक संस्कार—जिनका वेग पाँचवीं भूमिका से आगे नहीं है—उन का प्रभाव घटते ही चारित्र-शक्ति का विकास और भी बढ़ता है, जिससे आत्मा बाहरी भोगों से हटकर पूरा संन्यासी बन जाता है। यह हुई विकास की छट्ठी भूमिका। इस भूमिका में भी चारित्र-शक्ति के विपक्षी 'संज्वलन' नाम के संस्कार कभी कभी ऊधम मचाते हैं, जिससे चारित्र-शक्ति का

विकास दबता तो नहीं, पर उसकी शुद्धि या स्थिरता में अन्तराय इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार वायु के वेग के कारण,दिये की ज्योति की स्थिरता व अधिकता में। आत्मा जब 'संज्वलन' नामके संस्कारों को दबाता है,तब उत्क्रान्तिपथ की सातवीं आदि भूमिकाओं को लाँघकर ग्यारहवीं बारहवीं भूमिका तक पहुँच जाता है। बारहवीं भूमिका में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जिससे उक्त दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। तथापि उस अवस्था में शरीर का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता परिपूर्ण होने नहीं पाती। वह चौदहवीं भूमिका में सर्वथा पूर्ण बन जाती है और शरीर का वियोग होने के बाद वह स्थिरता, वह चारित्र-शक्ति अपने यथार्थ-रूपमें विकसित होकर सदा के लिये एकसी रहती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है—

> मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
> अज्ञान हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥
>
> (शिवगीता-१३-३२)

यह विकास की पराकाष्ठा, यह परमात्म-भाव का अभेद, यह चौथी भूमिका (गुणस्थान) में देखे हुये ईश्वरत्व का तादात्म्य, यह वेदान्तियों का ब्रह्म-भाव, यह जीव का शिव होना, और यही उत्क्रान्ति-मार्ग का अन्तिम साध्य। इसी साध्य तक पहुँचने के लिये आत्मा को विरोधी संस्कारों के साथ लड़ते झगड़ते, उन्हें दबाते, उत्क्रान्ति-मार्ग की जिन जिन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, उन भूमिकाओं के क्रम को ही 'गुणस्थान क्रम' समझना चाहिये। यह तो हुआ गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप। उन सब का विशेष स्वरूप थोड़े बहुत विस्तार की साथ इसी कर्मग्रन्थ की दूसरी गाथा की व्याख्या में लिख दिया गया है।

निवेदक—वीर.

बन्धी नाम के कषाय संस्कारों की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्म-भाव को देख नहीं सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शनमोह आदि संस्कारों के वेग के कारण उस समय उसकी दृष्टि, इतनी अस्थिर व चंचल बन जाती है कि जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्म-स्वरूप या ईश्वरत्व को देख नहीं सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है, परन्तु है वह अत्यन्त सूक्ष्म; इसलिये स्थिर व निर्मल दृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथी भूमिका या चौथे गुणस्थान को परमात्म-भाव के या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार कहना चाहिये। और उतनी हद तक पहुँचे हुये आत्मा को अन्तरात्मा कहना चाहिये। इसके विपरीत, पहली तीन भूमिकाओं में वर्तने के समय, आत्मा को बहिरात्मा कहना चाहिये। क्योंकि वह उस समय बाहरी वस्तुओं में ही आत्मत्व की भ्रान्ति से इधर उधर दौड़ लगाया करता है। चौथी भूमिका में दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी संस्कारों का वेग तो नहीं रहता, पर चारित्र-शक्ति के आवरण भूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। उनमें से अप्रत्याख्याना-वरण संस्कार का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं होता इससे पाँचवीं भूमिका में चारित्र शक्ति का प्राथमिक विकास होता है; जिससे उस समय आत्मा, इन्द्रिय-जय, यम-नियम आदि को थोड़े बहुत रूपमें करता है—थोड़े बहुत नियम पालने के लिये सहिष्णु हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण नामक संस्कार—जिनका वेग पाँचवीं भूमिका से आगे नहीं है—उन का प्रभाव घटते ही चारित्र-शक्ति का विकास और भी बढ़ता है, जिससे आत्मा बाहरी भोगों से हटकर पूरा संन्यासी बन जाता है। यह हुई विकास की छट्ठी भूमिका। इस भूमिका में भी चारित्र-शक्ति के विपक्षी 'संज्वलन' नाम के संस्कार कभी कभी ऊधम मचाते हैं, जिससे चारित्र-शक्ति का

दूसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची ।

उदीरणाधिकार—३

सत्ताधिकार—४

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ.	पं०	अशुद्धि.	शुद्धि.
१	१	कंमाइं	कम्माइं
२	६	अवाधा	बाधा
२	१६	खींचं	खींच
३	५	संक्रमण	संक्रमणकरण
३	२१	मिथ्यात्वास०	मिथ्यात्वसा०
३	२२	निवृत्यनिवृति	निवृत्त्यनिवृत्ति
४	११	विशेष को	विशेषों को
"	"	भिन्न	भिन्न भिन्न
४	१७	अशुद्धि तथा अशुद्धि से।	अशुद्धिवढ़ जाती है यद्यपि शुद्धि तथा अशुद्धि से
६	८	मिथ्यात्व	मिथ्यात्वी
७	६	सहते	सहते सहते
७	१२	रेशम की	बाँस की
७	२०	ग्रन्थि की	ग्रन्थि को
८	७	अर्थात्	अर्थात्
"	१३	अन्तःकरणकी क्रिया शुद्ध	अन्तरकरणकी क्रिया शुरू
"	१४	अन्तःकरण की	अन्तरकरण की
"	२०	"	"
९	७	जा	जो
१०	६	जीव को	जीव को
१४	६	ग्रायिक	क्षायिक
१५	२३	:	।

पृ०	पं०	अशुद्धि	शुद्धि
४७	१०	५६	५८
४९	१७	कारण	कारणों
५१	१	ओ ३ म	ॐ
५३	१२	सप्ताशितिर्देशे	सप्ताशीतिर्देशे
,,	१५	एकाशितिः	एकाशीतिः
५४	६	गुणस्थान	गुणस्थान में
५६	५	क	के
५६	६	सम्यक्त्व	सासादनसम्यक्त्व
,,	१६	कर्म०	११७ कर्म०
,,	१७	शेष	शेष १११
,,	२७	उदय चतुरिन्द्रिय पर्यन्त	उदय चतुरिन्द्रियों को होता है परन्तु एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त
६२	७	—	अर्थ—
,,	१८	१८	॥१८॥
६५	५	अतएव बारहवें	बारहवें
६६	२०	अगुर०	अगुरु०
७६	१६	लोहिनामतकर्म	लोहितनामकर्म
७९	६	सम्यकत्वी	सम्यक्त्वी
८१	२	,,	,,
८१	११	चरिमेंगसओ	चरिमेंगसओ
८२	१४	आनुपूर्वी	आनुपूर्वी
८८	२३	पेक	एक

पृ०	पं०	अशुद्धि.	शुद्धि.
१६	२६	अध्यवसायों का	अध्यवसायों का और दूसरा वर्ग उत्कृष्ट अध्यवसायों का
१३	१४	भिन्न ही होते हैं,	भिन्न ही होते हैं तथा प्रथम समय के जघन्य अध्यवसायों से प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनंतगुण विशुद्ध
१७	१७	समझने चाहिए	समझने चाहिए और प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से तत्समयक उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त-गुण विशुद्ध
१८	१६	पूर्व	पूर्ण
२२	१०	सिवा	सिवा
३०	१६	तीसरे	३
३२	१३	स्वाभाविक	स्वाभाविक
३३	५	द्यपि	यद्यपि
३६	२२	४	५
३८	१७	दुःखर	दुःस्वर
,,	२५	बाच	बीच
३६	,,	पमते	पमत्ते
४६	१	शेष	शेष २२

पृ०	पं०	अशुद्धि.	शुद्धि.
४७	१०	५६	५८
४९	१७	कारण	कारणों
५१	१	ओ ३ म	ॐ
५३	१२	सप्ताशितिर्देशे	सप्ताशीतिर्देशे
,,	१५	एकाशितिः	एकाशीतिः
५४	६	गुणस्थान	गुणस्थान में
५६	५	क	के
५६	६	सम्यक्त्व	सासादनसम्यक्त्व
,,	१६	कर्म०	११७ कर्म०
,,	१७	शेष	शेष १११
,,	२७	उदय चतुरिन्द्रिय पर्यन्त	उदय चतुरिन्द्रियों को होता है परन्तु एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त
६२	७	—	अर्थ—
,,	१८	१८	॥१८॥
६५	५	अतएव बारहवें	बारहवें
६६	२०	अगुर०	अगुरु०
७६	१९	लोहिनामतकर्म	लोहितनामकर्म
७९	९	सम्यकत्वी	सम्यक्त्वी
८१	२	,,	,,
८१	१९	चरिमेंगसओ	चरिमेगसओ
८२	१४	आनुपूर्वीं	आनुपूर्वी
८८	२३	ऐक	एक

ॐ

कर्मस्तवनामक दूसरा कर्मग्रन्थ ।

बन्धाधिकार ।

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥ १ ॥

(तथा स्तुमो वीरजिनं यथा गुणस्थानेषु सकलकर्माणि ।
बन्धोदयोदीरणासत्ताप्राप्तानि क्षपितानि ॥ १ ॥)

अर्थ—गुणस्थानों में बन्धको, उदय को, उदीरणा को और सत्ता को प्राप्त हुये सभी कर्मों का क्षय जिस प्रकार भगवान् वीर ने किया, उसी प्रकार से उस परमात्मा की स्तुति हम करते हैं।

भावार्थ—असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन ही स्तुति कहलाती है। सकल कर्मों का नाश यह भगवान् का असाधारण और यथार्थ गुण है, इससे उस गुण का कथन करना यही स्तुति है।

मिथ्यात्वआदि निमित्तों से ज्ञानावरणआदि रूप में परिणत होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध पानी के समान मिलजाना, उसे "बंध" कहते हैं।

बंधे हुये कर्मका तप-ध्यान-आदि साधनों के द्वारा आत्मा से अलग हो जाना "निर्जरा" कहलाती है।

जिस वीर्य-विशेष से कर्म, एक स्वरूप को छोड़ दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उस वीर्य विशेष का नाम "संक्रमण" है। इस तरह एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीयकर्मप्रकृतिरूप बन जाना भी संक्रमण कहाता है। जैसे-मतिज्ञानावरणीय कर्म का श्रुतज्ञानावरणीय कर्मरूपमें बदल जाना या श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का मतिज्ञानावरणीय कर्म रूप में बदल जाना। क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म का भेद होने से आपस में सजातीय हैं।]

प्रत्येक गुणस्थान में जितनी कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों का उदय हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों की उदीरणा की जा सकती है और जितनी कर्म प्रकृतियाँ सत्तागत हो सकती हैं; उनका क्रमशः वर्णन करना, यही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से इस ग्रन्थ में पूरा किया है ॥ १ ॥

पहले गुण स्थानों को दिखाते हैं

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमु वसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥२॥
(मिथ्यात्वसास्वादनमिश्रमविरतदेशं प्रमत्तापमत्तम् ।
निवृत्त्यनिवृत्ति सूक्ष्मोपशम क्षीणसयोग्ययोगिगुणाः ॥२॥)

उदय काल आने पर कर्मों के शुभाशुभ फल का भोगना, "उदय" कहलाता है।

[अबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर जिस समय कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को "उदयकाल" समझना चाहिये।

बन्धे हुये कर्म से जितने समय तक आत्मा को अबाधा नहीं होती-अर्थात् शुभाशुभ-फल का वेदन नहीं होता उतने समय को "अबाधा काल" समझना चाहिये।

सभी कर्मों का अबाधा काल अपनी अपनी स्थिति के अनुसार जुदा जुदा होता है। कभी तो वह अबाधा काल स्वाभाविक क्रमसे ही व्यतीत होता है, और कभी अपवर्तना करण से जल्द पूरा होजाता है।

जिस वीर्यविशेष से पहले बँधे हुये कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं उसको, 'अपवर्तना करण" समझना चाहिये।]

अबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय में आने वाले होते हैं, उनको प्रयत्नविशेष से खींच कर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उसे "उदीरणा" कहते हैं।

बँधे हुये कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़ कर आत्मा के साथ लगा रहना "सत्ता" कहलाती है।

[बद्ध-कर्म, निर्जरा से और संक्रमण से अपने स्वरूप को छोड़ देता है।

बँधे हुये कर्मका तप-ध्यान-आदि साधनों के द्वारा आत्मा से अलग हो जाना "निर्जरा" कहलाती है।

जिस वीर्य-विशेष से कर्म, एक स्वरूप को छोड़ दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उस वीर्य विशेष का नाम "संक्रमण" है। इस तरह एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीयकर्मप्रकृतिरूप बन जाना भी संक्रमण कहाता है। जैसे-मतिज्ञानावरणीय कर्म का श्रुतज्ञानावरणीय कर्मरूपमें बदल जाना या श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का मतिज्ञानावरणीय कर्म रूप में बदल जाना। क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म का भेद होने से आपस में सजातीय हैं।]

प्रत्येक गुणस्थान में जितनी कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों का उदय हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों की उदीरणा की जा सकती है और जितनी कर्म प्रकृतियाँ सत्तागत हो सकती हैं; उनका क्रमशः वर्णन करना, यही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से इस ग्रन्थ में पूरा किया है॥ १॥

पहले गुण स्थानों को दिखाते हैं

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमु वसम खीण सजोगि अजोगिगुणा॥२॥
(मिथ्यात्वसास्वादनमिश्रमविरतदेशं प्रमत्तामप्रमत्तम्।
निवृत्त्यनिवृत्ति सूक्ष्मोपशम क्षीणसयोग्ययोगिगुणाः॥२॥)

अर्थ—गुणस्थान के १४ (चौदह) भेद हैं। जैसे—(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, (२) सास्वादन (सासादन) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (५) देशविरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान,(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान(८) निवृत्ति (अपूर्वकरण),गुणस्थान(९)अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्त-कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान, (१२) क्षीणकषाय वीत-राग-छद्मस्थ गुणस्थान, (१३) सयोगि केवलि गुणस्थान और (१४) अयोगि केवलि गुणस्थान।

भावार्थ—जीव के स्वरूपविशेष को (भिन्न स्वरूप को) गुणस्थान कहते हैं। ये स्वरूपविशेष ज्ञान दर्शन चारित्र आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होते हैं। जिस वक्त अपना आवरणभूत कर्म कम होजाता है,उस वक्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आदि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट होती है। और जिस वक्त आवरणभूत कर्म की अधिकता हो जाती है, उस वक्त उक्त गुणों की शुद्धि कम हो जाती है, और अशु-द्धि तथा अशुद्धि से होनेवाले जीव के स्वरूप विशेष असंख्य प्रकार के होते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप चौदह गुणस्थानों के रूप में कर दिया गया है। चौदहों गुणस्थान मोक्षरूप महल को प्राप्त करने के लिये सीढ़ियों के समान हैं। पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर २ गुण-स्थान में ज्ञान-आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है, और अशुद्धि घटती जाती है। अतएव आगे आगे के गुणस्थानों में अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियां अधिक बाँधी जाती हैं, और शुभ प्रकृतियों का बंध भी क्रमशः रुकता जाता है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान–मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा या प्रतिपत्ति) मिथ्या (उलटी) हो जाती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहाता है–जैसे धतूरे के बीज को खानेवाला मनुष्य सफेद-चीज़ को भी पीली देखता और मानता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव भी जिसमें देव के लक्षण नहीं हैं उसको देव मानता है, तथा जिस में गुरु के लक्षण नहीं उसपर गुरु-बुद्धि रखता है और जो धर्मों के लक्षणों से रहित है उसे धर्म समझता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीवका स्वरूप-विशेष ही "मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान" कहाता है।

प्रश्न—मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं? क्योंकि जब उसकी दृष्टि मिथ्या (अयथार्थ) है तब उसका स्वरूप-विशेष भी विकृत—अर्थात् दोषात्मक हो जाता है।

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि सर्वथा यथार्थ नहीं होती, तथापि वह किसी अंशमें यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूपसे जानता तथा मानता है। इस लिये उसके स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहा है। जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती, किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती ही है जिससे कि दिनरात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टि-गुण सर्वथा आवृत नहीं होता। अतएव किसी न किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है।

अर्थ—गुणस्थान के १४ (चौदह) भेद हैं। जैसे—(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, (२) सास्वादन (सासादन) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (५) देशविरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान,(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान(८) निवृत्ति (अपूर्वकरण),गुणस्थान(९)अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान, (१२) क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान, (१३) सयोगि केवलि गुणस्थान और (१४) अयोगि केवलि गुणस्थान।

भावार्थ—जीव के स्वरूपविशेष को (भिन्न स्वरूप को) गुणस्थान कहते हैं। ये स्वरूपविशेष ज्ञान दर्शन चारित्र आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होते हैं। जिस वक्त अपना आवरणभूत कर्म कम होजाता है,उस वक्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आदि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट होती है। और जिस वक्त आवरणभूत कर्म की अधिकता हो जाती है, उस वक्त उक्त गुणों की शुद्धि कम हो जाती है, और अशुद्धि तथा अशुद्धि से होनेवाले जीव के स्वरूप विशेष असंख्य प्रकार के होते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप चौदह गुणस्थानों के रूप में कर दिया गया है। चौदहों गुणस्थान मोक्षरूप महल को प्राप्त करने के लिये सीढ़ियों के समान हैं। पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर २ गुणस्थान में ज्ञान-आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है, और अशुद्धि घटती जाती है। अतएव आगे आगे के गुणस्थानों में अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियां अधिक बांधी जाती हैं, और शुभ प्रकृतियों का बंध भी क्रमशः रुकता जाता है।

प्रसंगवश इसी जगह औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का क्रम लिख दिया जाता है ॥

जीव अनादि- काल से संसार में घूम रहा है, और तरह तरह के दुःखों को पाता है। जिस प्रकार पर्वत की नदी का पत्थर इधर उधर टकरा कर गोल और चीकना बन जाता है, इसी प्रकार जीव भी अनेक दुःख सहते कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि जिस के बल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासंख्यात भाग न्यून कोटा कोटी सागरोपम प्रमाण कर देता है। इसी परिणाम का नाम शास्त्र में यथाप्रवृत्ति करण है। यथाप्रवृत्ति करण से जीव रागद्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जोकि कर्कश, दृढ और गूढ रेशम की गांठ के समान दुर्भेद है वहां तक आता है, परन्तु उस गांठ को भेद नहीं सकता, इसी को ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कहते हैं। यथाप्रवृत्ति करण से अभव्य जीव भी ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकते हैं—अर्थात् कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति को घटा कर अन्तः कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकते हैं, परन्तु वे रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थिको तोड़ नहीं सकते। और भव्य जीव यथाप्रवृत्ति करण नामक परिणाम से भी विशेष शुद्ध—परिणाम को पा सकता है। तथा उस के द्वारा राग द्वेष की दृढतम ग्रन्थि को–अर्थात् राग द्वेष के अति दृढ–संस्कारों को छिन्न भिन्न कर सकता है। भव्य जीव जिस परिणाम से राग द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में "अपूर्वकरण" कहते हैं। "अपूर्वकरण" नाम रखने का मतलब यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है, बार बार नहीं होता। अतएव यह परिणाम अपूर्व सा है। इसके विपरीत "यथाप्रवृत्ति"

प्रश्न—जब मिथ्यात्वी की दृष्टि किसी भी अंश में यथार्थ हो सकती है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या बाधा है ? ।

उत्तर—एक अंश मात्र की यथार्थ प्रतीति होने से जीव सम्यग्दृष्टि नहीं कहाता, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि जो जीव सर्वज्ञ के कहे हुये बारह अङ्गों पर श्रद्धा रखता है परन्तु उन अङ्गों के किसी भी एक अक्षर पर विश्वास नहीं करता, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। जैसे जमालि। मिथ्यात्व की अपेक्षा सम्यक्त्वि-जीव में विशेषता यही है कि सर्वज्ञ के कथन के ऊपर सम्यक्त्वी का विश्वास अखंडित रहता है, और मिथ्यात्वी का नहीं ॥ १ ॥

सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वी है, परन्तु अनन्तानुबन्धि कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, वह जीव जब तक मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक—अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है और उस जीव का स्वरूप—विशेष "सासादन सम्यग्दृष्टि—गुण स्थान" कहाता है ॥

इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि जिस प्रकार खीर खा कर उस का वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर झुके हुये उस जीव को भी, कुछ काल के लिये सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है। अत एव इस गुण स्थान को "सास्वादन सम्यग्दृष्टिगुणस्थान" भी कहते हैं ॥

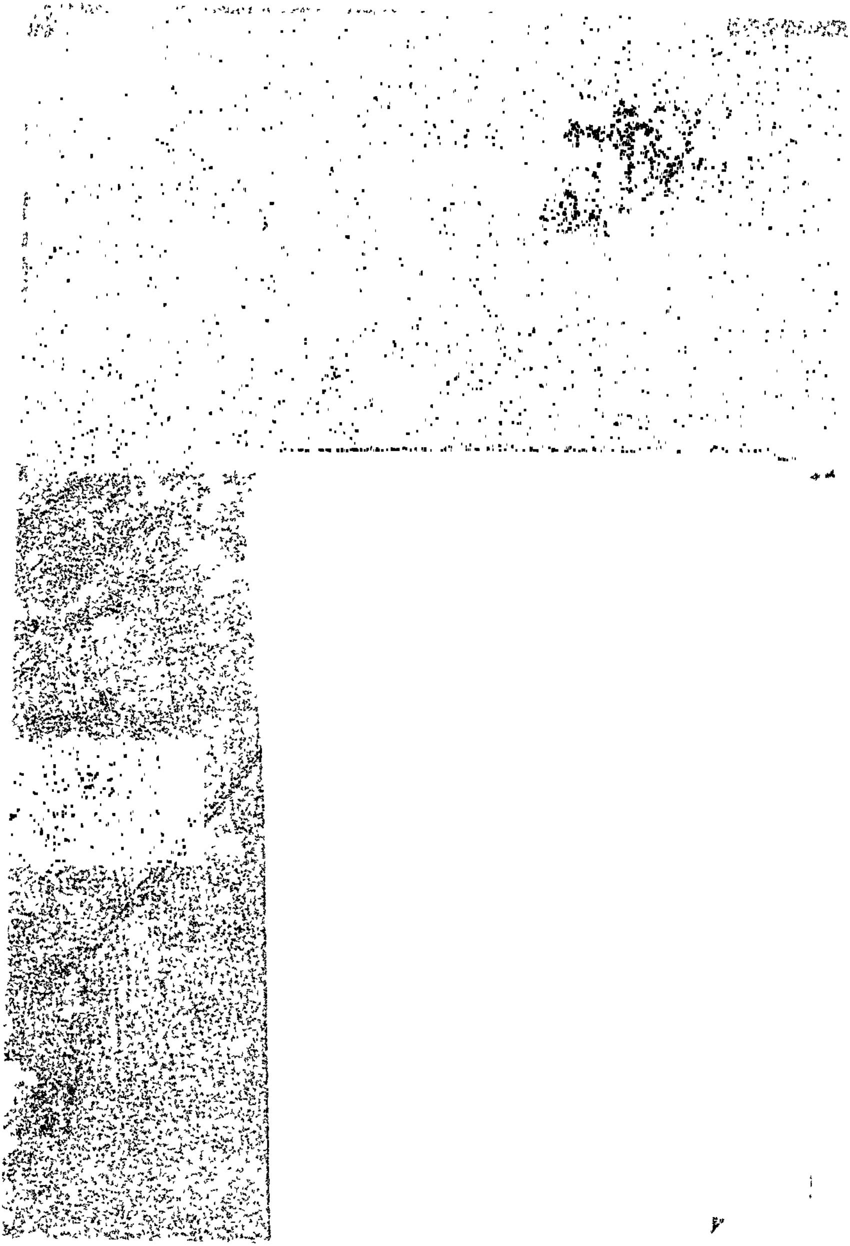
प्रसंगवश इसी जगह औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का क्रम लिख दिया जाता है ॥

जीव अनादि- काल से संसार में घूम रहा है, और तरह तरह के दुःखों को पाता है। जिस प्रकार पर्वत की नदी का पत्थर इधर उधर टकरा कर गोल और चीकना बन जाता है, इसी प्रकार जीव भी अनेक दुःख सहते कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि जिस के बल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासंख्यात भाग न्यून कोटा कोटी सागरोपम प्रमाण कर देता है। इसी परिणाम का नाम शास्त्र में यथाप्रवृत्ति करण है। यथाप्रवृत्ति करण से जीव रागद्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जोकि कर्कश, दृढ और गूढ रेशम की गांठ के समान दुर्भेद है वहां तक आता है, परन्तु उस गांठ को भेद नहीं सकता, इसी को ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कहते हैं। यथाप्रवृत्ति करण से अभव्य जीव भी ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकते हैं—अर्थात् कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति को घटा कर अन्तः कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकते हैं, परन्तु वे रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थिको तोड़ नहीं सकते। और भव्य जीव यथाप्रवृत्ति करण नामक परिणाम से भी विशेष शुद्ध—परिणाम को पा सकता है। तथा उस के द्वारा राग द्वेष की दृढतम ग्रन्थि को–अर्थात् राग द्वेष के अति दृढ–संस्कारों को छिन्न भिन्न कर सकता है। भव्य जीव जिस परिणाम से राग द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में "अपूर्वकरण" कहते हैं। "अपूर्वकरण" नाम रखने का मतलब यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है, बार बार नहीं होता। अतएव वह परिणाम अपूर्वसा है। इसके विपरीत "यथाप्रवृत्ति"

करण" नामक परिणाम तो अभव्य जीवों को भी अनन्त वार आता है। अपूर्वकरण-परिणाम से जब राग द्वेष की ग्रन्थि टूट जाती है, तब तो और भी अधिक शुद्ध परिणाम होता है। इस अधिक शुद्ध परिणाम को "अनिवृत्ति करण" कहते हैं। इसे अनिवृत्तिकरण कहने का अभिप्राय यह है कि इस परिणाम के बल से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है। सम्यक्त्व को प्राप्त किये विना वह निवृत्त नहीं होता-अर्थात् पीछे नहीं हटता। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य समुल्लास-अर्थात् सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाता है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण मानी जाती है। अनिवृत्ति करण की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति में से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं, और एक भाग मात्र शेष रह जाता है, तब अन्तःकरण की क्रिया शुरू होती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग-जिसमें अन्तःकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है-वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होता है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं, इस लिये यह स्पष्ट है कि अनिवृत्ति करण के अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा उसके अन्तिम भाग का अन्तर्मुहूर्त जिसको अन्तर करण क्रिया-काल कहना चाहिये-वह छोटा होता है। अनिवृत्ति करण के अन्तिम भाग में अन्तःकरण की क्रिया होती है इसका मतलब यह है कि अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है, उसके उन दलिकों को जो कि अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आनेवाले हैं, आगे पीछे करलेना अर्थात् अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के जितने दलिक उदयमें आनेवाले हों, उनमें से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त

उदय में आने वाले दलिकों में स्थापित किया जाता है॥ और कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त्त के बाद उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिला दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल ऐसा हो जाता है कि जिस में मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का दलिक रहता ही नहीं। अतएव जिसकी अबाधा काल पूरा हो चुका है, ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो भाग हो जाते हैं। एक भाग तो वह, जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदयमान रहता है, और दूसरा भाग वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद, एक अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण काल व्यतीत हो चुकने पर उदय में आता है। इन दो भागों में से पहले भाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे भाग को द्वितीयस्थिति कहते हैं। जिस समय में अन्तर करण क्रिया शुरू होती है-अर्थात् निरन्तर उदययोग्य दलिकों का व्यवधान किया जाता है, उस समय से अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उक्त दो भागों में से प्रथम भाग का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का किसी भी प्रकार का उदय नहीं रहता। क्योंकि उस वक्त जिन दलिकों के उदय की सम्भव है, वे सब दलिक, अन्तरकरण क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त मिथ्यात्व का उदय रहता है, इस लिये उस वक्त तक जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। परन्तु अनिवृत्तिकरण काल व्यतीत हो चुकने पर जीवको औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नहीं होता। इस लिये जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्वगुण व्यक्त होता है और

है। और तीसरा पुञ्ज तो अशुद्ध ही रह जाता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण हो जाने के बाद उक्त तीनें पुँजोंमें से कोई एक पुंज जीव के परिणामानुसार उदय में आता है। यदि जीव विशुद्धपरिणामी ही रहा तो शुद्धपुञ्ज उदयगत होता है। शुद्धपुञ्ज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो होता नहीं इस से उस समय जो सम्यक्त्व प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम न तो बिलकुल शुद्ध रहा और न बिलकुल अशुद्ध, किन्तु मिश्र ही रहा तो अर्धविशुद्ध पुंजका उदय हो आता है। और यदि परिणाम अशुद्ध ही हो गया तब तो अशुद्ध पुञ्ज उदयगत हो जाता है, अशुद्ध पुञ्ज के उदयप्राप्त होने से जीव, फिर मिथ्यादृष्टि बन जाता है। अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण उपशान्त-अद्धा, जिसमें जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द हो जाता है, उस का जघन्य एक समय या उत्कृष्ट छः (६) आवलिकायें जब बाकी रह जाती हैं, तब किसी किसी औपशमिक सम्यक्त्वी जीव को विघ्न आ पड़ता है-अर्थात् उसकी शान्ति में भङ्ग पड़ता है। क्योंकि उस समय अनंतानुबंधि कषाय का उदय हो आता है। अनन्तानुबन्धि कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व परिणाम का त्याग कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। और जब तक वह मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक,-अर्थात् उपशान्त-अद्धा के जघन्य एक समय पर्यन्त अथवा उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त सासादन भाव का अनुभव करता है। इसी से उस समय वह जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है। जिसको औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वही सासादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है; दूसरा नहीं ॥२॥



जो सम्यग्दृष्टि हो कर भी किसी भी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि, और उस का स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान कहाता है. अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं। जैसे—

१—जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं वे सामान्यतः सब लोग।

२—जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं। वे तपस्वीविशेष।

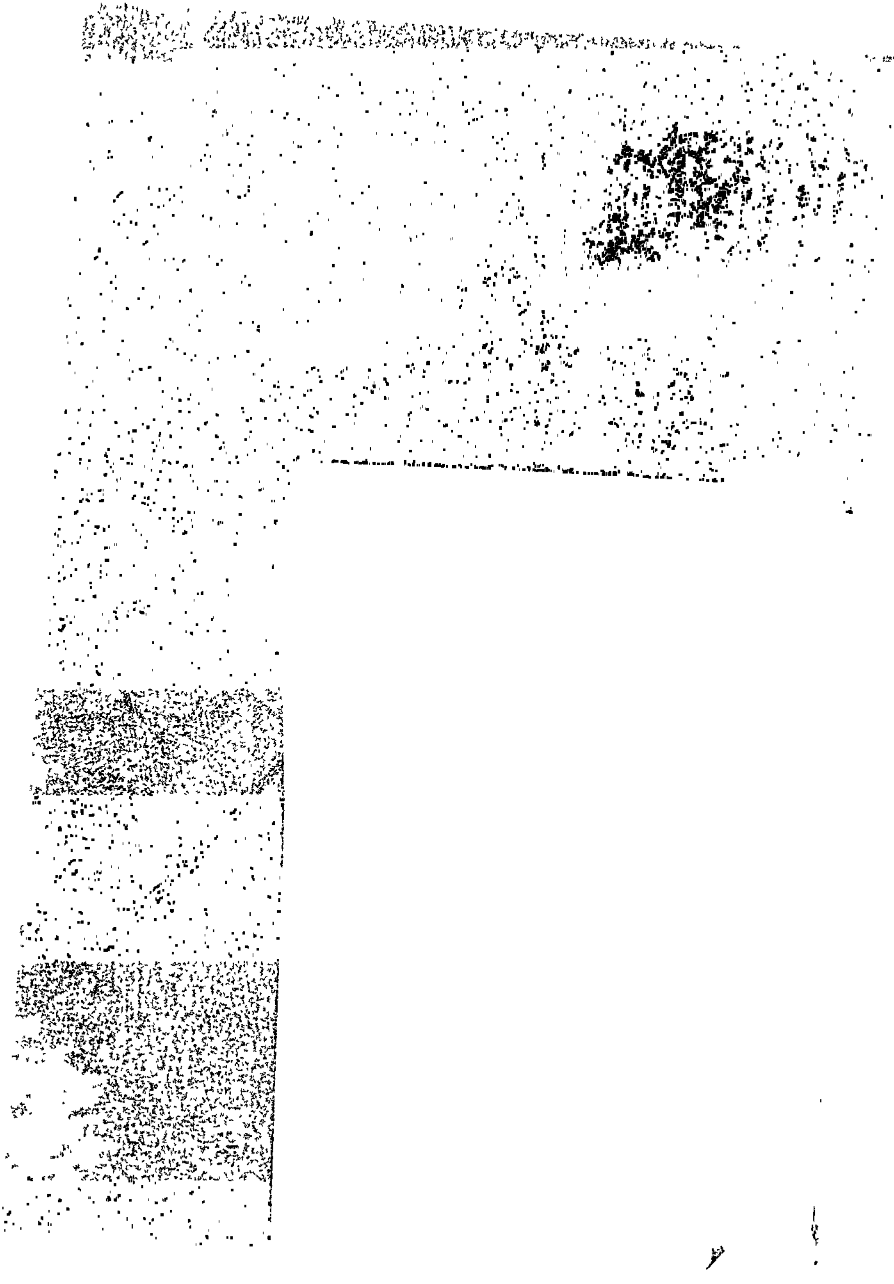
३—जो व्रतों को जानते नहीं, परन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालते नहीं, वे पार्श्वस्थ नामक साधुविशेष।

४—जिनको व्रतोंका ज्ञान नहीं है, किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन बराबर करते हैं, वे अगीतार्थ मुनि।

५—जिनको व्रतों का ज्ञान तो है, परन्तु जो व्रतों का स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते, वे श्रेणिक, कृष्ण आदि।

६—जो व्रतों को जानते हुये भी स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु उनका पालन अवश्य करते हैं, वे अनुत्तरविमानवासिदेव।

७—जो व्रतों को जानकर स्वीकार लेते हैं, किन्तु पीछे से उन का पालन नहीं कर सकते, वे संविग्नपाक्षिक।
सम्यग्ज्ञान सम्यग्ग्रहण और सम्यक्पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिन को व्रतों का सम्यग्ज्ञान नहीं है, जो व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का यथार्थ पालन नहीं करते,



जो सम्यग्दृष्टि हो कर भी किसी भी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि,, और उस का स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान कहाता है. अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं। जैसे—

१—जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं वे सामान्यतः सब लोग।

२—जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं। वे तपस्वीविशेष।

३—जो व्रतों को जानते नहीं, परन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालते नहीं, वे पार्श्वस्थ नामक साधुविशेष।

४—जिनको व्रतोंका ज्ञान नहीं है, किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन बराबर करते हैं, वे अगीतार्थ मुनि।

५—जिनको व्रतों का ज्ञान तो है, परन्तु जो व्रतों का स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते, वे श्रेणिक, कृष्ण आदि।

६—जो व्रतों को जानते हुये भी स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु उनका पालन अवश्य करते हैं, वे अनुत्तरविमान वासिदेव।

७—जो व्रतों को जानकर स्वीकार लेते हैं, किन्तु पीछे से उन का पालन नहीं कर सकते, वे संविग्नपाक्षिक।
सम्यग्ज्ञान सम्यग्ग्रहण और सम्यक्पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिन को व्रतों का सम्यग्ज्ञान नहीं है, जो व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का यथार्थ पालन नहीं करते,

से पुत्र आदि को नहीं रोकना, उसे " प्रतिश्रवणानुमति" कहते हैं। पुत्र आदि अपने संबन्धियों के पाप-कार्य में प्रवृत्त होने पर, उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना-अर्थात् नतो पाप-कर्मों को सुनना और सुन कर भी न उस की प्रशंसा करना, इसे " संवासानुमति " कहते हैं। जो श्रावक, पापजनक-आरंभो में किसी भी प्रकार से योग नहीं देता केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों में श्रेष्ठ है ॥५॥

प्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वेही संयत (मुनि) हैं। संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तबतक प्रमत्तसंयत कहाते हैं, और उनका स्वरूपविशेष प्रमत्त संयत गुणस्थान कहाता है। जो जीव संयत होते हैं, वे यहां तक सावद्य कर्मों का त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुमति को भी नहीं सेवते। इतना त्याग कर सकने का कारण यह है कि, छठे गुणस्थानसे लेकर आगे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता ही नहीं है ॥६॥

अप्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय विकथा-आदि प्रमादों को नहीं सेवते वे अप्रमत्त संयत हैं, और उन का स्वरूप-विशेष, जो ज्ञान-आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भावसे होता है, वह अप्रमत्तसंयत गुण-स्थान है। प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि-से गिरता है : इस लिये सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में वर्तमान मुनि, अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं ॥७॥

ये सब घुणाक्षरन्याय से व्रतों को पाल भी लें तथापि उस में फलका सम्भव नहीं है। उक्त सात प्रकार के अविरतों में से पहले चार प्रकार के अविरत–जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं। क्यों कि उनको व्रतोंका यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। और पिछले तीन प्रकार के अविरत जीव सम्यग्दृष्टि हैं। क्यों कि वे व्रतों को यथाविधि ग्रहण तथा पालन नहीं कर सकते, तथापि उन्हें यथार्थ जानते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों में भी कोई औपशमिक-सम्यक्त्वी होते हैं, कोई क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वी होते हैं और कोई क्षायिक-सम्यक्त्वी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रत–नियम को यथावत् जानते हुये भी स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते क्योंकि उनको अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय रहता है, और यह उदय चारित्रके ग्रहण तथा पालन का प्रतिबंधक(रोकने वाला)है॥४॥

देशविरतगुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव, पाप जनक क्रियाओं से बिलकुल नहीं किन्तु देश (अंश) से अलग हो सकते हैं वे देशविरत या श्रावक कहलाते हैं; और उनका स्वरूप·विशेष देशविरत गुण स्थान। कोई श्रावक एक व्रत को ग्रहण करता है, और कोई दो व्रत को। इस प्रकार अधिक से अधिक व्रत को पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं जो कि पापकार्यों में अनु–मति के सिवा और किसी प्रकार से भाग नहीं लेते अनुमति तीन प्रकार की है जैसे १ प्रतिसेवनानुमति, २-प्रतिश्रवणा नुमति और ३-संवासानुमति। अपने या दूसरे के किये हुये भोजन आदि का उपभोग करना "प्रतिसेवनानुमति" कहाती है। पुत्र-आदि किसी संबन्धि के द्वारा किये गये पाप कर्मों को केवल सुनना और सुन कर भी उन कामों के करने

से पुत्र आदि को नहीं रोकना; उसे "प्रतिश्रवणानुमति" कहते हैं। पुत्र आदि अपने संबन्धियों के पाप-कार्य में प्रवृत्त होने पर, उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना-अर्थात् न तो पाप-कर्मों को सुनना और सुन कर भी न उस की प्रशंसा करना, इसे "संवासानुमति" कहते हैं। जो श्रावक, पापजनक-आरंभो में किसी भी प्रकार से योग नहीं देता केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों में श्रेष्ठ है ॥५॥

प्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वेही संयत (मुनि) हैं। संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तबतक प्रमत्तसंयत कहाते हैं, और उनका स्वरूपविशेष प्रमत्त संयत गुणस्थान कहाता है। जो जीव संयत होते हैं, वे यहां तक सावद्य कर्मों का त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुमति को भी नहीं सेवते। इतना त्याग कर सकने का कारण यह है कि, छट्टे गुणस्थानसे लेकर आगे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता ही नहीं है ॥६॥

अप्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय विकथा-आदि प्रमादों को नहीं सेवते वे अप्रमत्त संयत हैं, और उन का स्वरूप-विशेष, जो ज्ञान-आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भावसे होता है, वह अप्रमत्तसंयत गुण-स्थान है। प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है : इस लिये सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में वर्तमान मुनि, अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं ॥७॥

के बीच में असंख्यात वर्ग हैं, जिन के सब अध्यवसाय मध्यम कहाते हैं। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्त-गुण-अधिक मानी जाती है। और बीच के सब वर्गों में से पूर्व पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर वर्ग के अध्यवसाय, विशेष-शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार माना जाता है कि सम-समयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से अनन्त-भाग-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, संख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, संख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध और अनन्त-गुण-अधिक-शुद्ध होते हैं। इस तरह की अधिक-शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त-भाग-अधिक आदि छः प्रकारों को शास्त्र में 'षट्स्थान' कहते हैं। प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं, और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समयतक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायों से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न समझने चाहिये। तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट-अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध समझने चाहिये।

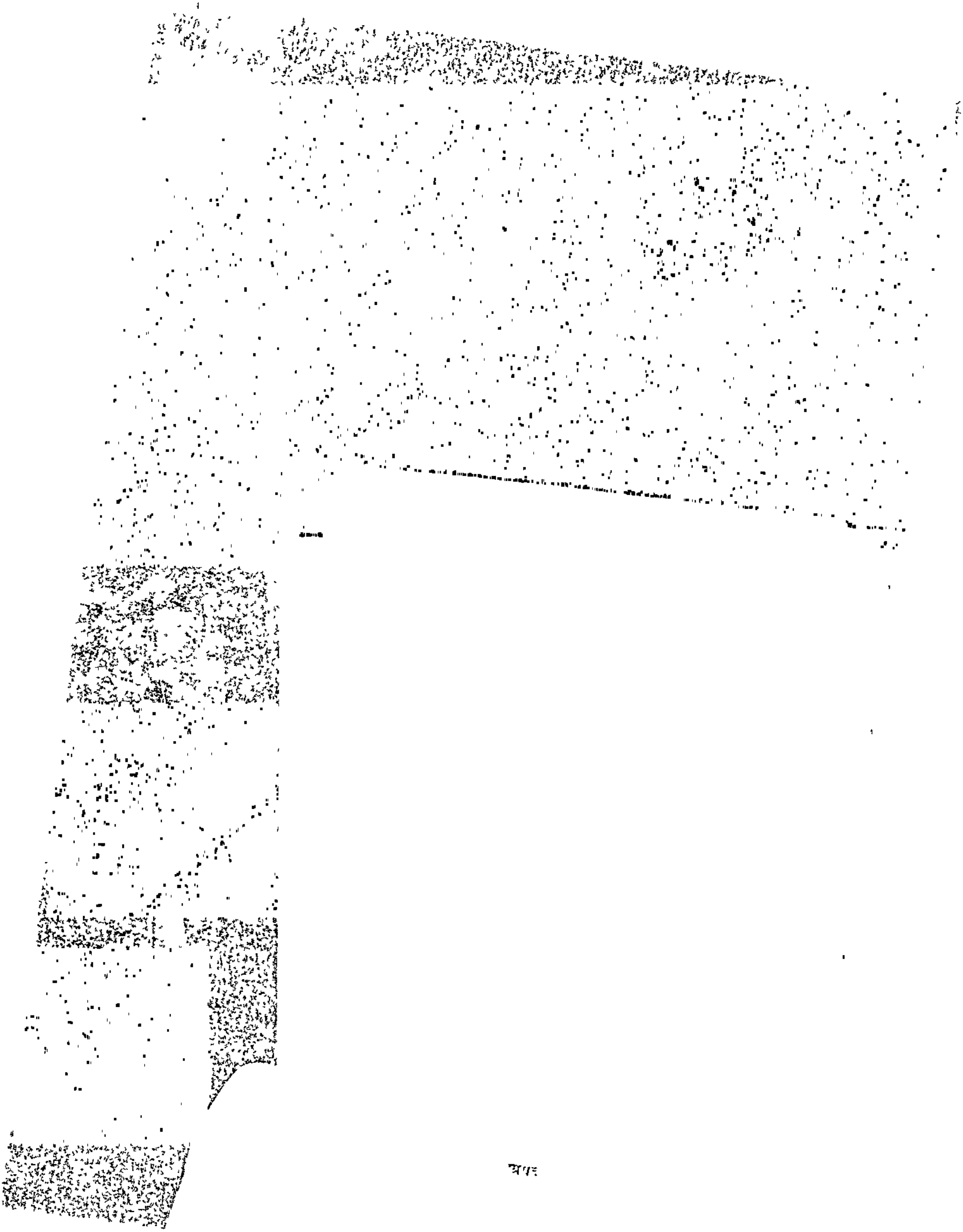
इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। जैसे—१ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुण-श्रेणि, ४ गुणसंक्रमण और अपूर्व स्थितिबंध।

१—जो कर्म-दलिक आगे उदय में आनेवाले हैं, उन्हें अपवर्तना-करण के द्वारा अपने अपने उदय के नियत समयों से हटा देना—अर्थात ज्ञानावरण आदि कर्मों की बड़ी स्थिति को

के बीच में असंख्यात वर्ग हैं, जिन के सब अध्यवसाय मध्यम कहाते हैं। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्त-गुण-अधिक मानी जाती है। और बीच के सब वर्गों में से पूर्व पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर वर्ग के अध्यवसाय, विशेष-शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार माना जाता है कि सम-समयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से अनन्त-भाग-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, संख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, संख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध और अनन्त-गुण-अधिक-शुद्ध होते हैं। इस तरह की अधिक-शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त-भाग-अधिक आदि छः प्रकारों को शास्त्र में 'षट्स्थान' कहते हैं। प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं, और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समयतक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायों से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न समझने चाहिये। तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट-अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध समझने चाहिये।

इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। जैसे—१ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुण-श्रेणि, ४ गुणसंक्रमण और अपूर्व स्थितिबंध।

१—जो कर्म-दलिक आगे उदय में आनेवाले हैं, उन्हें अपवर्तना-करण के द्वारा अपने अपने उदय के नियत समयों से हटा देना—अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों की बड़ी स्थिति को

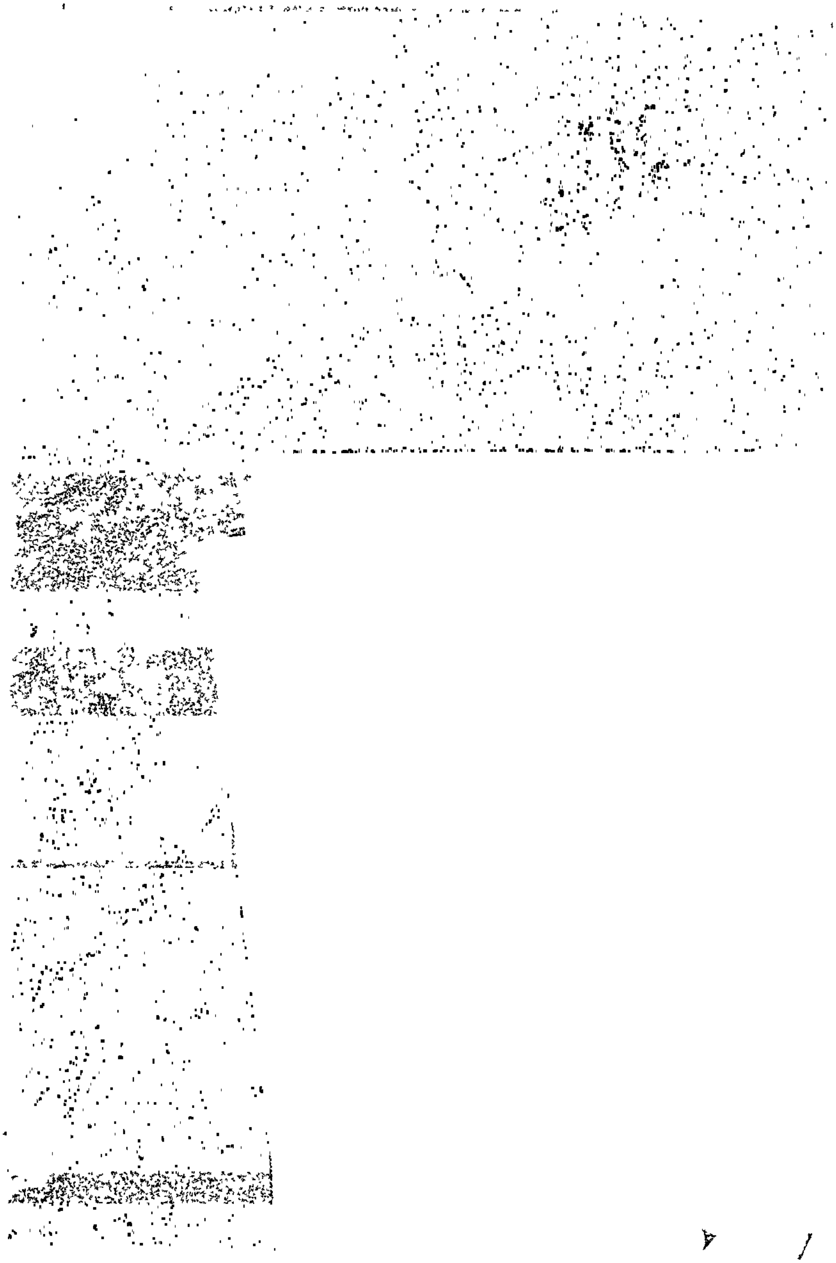


अपर

दलिकों का संक्रमण होता है। इस प्रकार जब तक गुण-संक्रमण होता रहता है तब तक पूर्व पूर्व समय में संक्रमण किये गये दलिकों से उत्तर उत्तर समय में असंख्यात गुण-अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

५—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प-स्थिति के कर्मों को बाँधना "अपूर्वस्थितिबन्ध" कहलाता है।

ये स्थितिघात-आदि पाँच पदार्थ, यद्यपि पहले के गुण-स्थानों में भी होते हैं, तथापि आठवें गुणस्थान में वे अपूर्व ही होते हैं। क्यों कि पहले के गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में अध्यवसायों की शुद्धि अत्यन्त अधिक होती है। अतएव पहलेके गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अतिअल्प रस का घात होता है। परन्तु आठवें गुणस्थान में अधिक-स्थिति का तथा अधिक-रस का घात होता है। इसी तरह पहले के गुणस्थानों में गुणश्रेणि की काल मर्यादा अधिक होती है, तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है वे दलिक भी अल्प ही होते हैं; और आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणि-योग्य-दलिक तो बहुत अधिक होते हैं, परन्तु गुणश्रेणि का काल-मान बहुत कम होता है। तथा पहले गुणस्थानों की अपेक्षा आठवें गुणस्थान में गुणसंक्रमण भी बहुत कर्मों का होता है, अतएव वह अपूर्व होता है। और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्प स्थिति के कर्म बाँधे जाते हैं कि जितनी अल्प-स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कदापि नहीं बँधते। इस प्रकार उक्त स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस आठवें गुणस्थान का दूसरा नाम "अपूर्व करण" गुणस्थान यह भी शास्त्र में प्रसिद्ध है।



दूसरे वर्ग के अध्यवसाय—अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार नववें गुणस्थान के अन्तिमसमय तक पूर्व २ समय के अध्यवसाय-स्थान से उत्तर२ समय के अध्यवसाय-स्थान को अनन्त-गुण-विशुद्ध समझना चाहिये। आठवें गुण-स्थानक से नववें गुणस्थानक में यही विशेषता है कि आठवें गुणस्थानक में तो समान-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त-जीवों के अध्यवसाय,शुद्धि के तरतम-भाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं,परन्तु नववें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त- जीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व पूर्व गुणस्थान-की अपेक्षा उत्तर उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं,और कषाय की(संक्लेश की)जितनी ही कमी हुई, उतनी ही विशुद्धि जीव के परिणामों की बढ़ जाती है। आठवें गुणस्थान से नववें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नतायें आठवें गुण-स्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

दसवें गुणस्थान की अपेक्षा नववें गुणस्थान में बादर (स्थूल) सम्पराय (कषाय) उदय में आता है। तथा नववें गुणस्थान के सम-समय-वर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती। इसी लिये इस गुणस्थान का "अनि-वृत्तिबादरसम्पराय" ऐसा सार्थक नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है।

नववें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव, दो प्रकार के होते हैं:—एक उपशमक और दूसरे, क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं, वे उपशमक और जो

दूसरे वर्ग के अध्यवसाय—अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार नववें गुणस्थान के अन्तिमसमय तक पूर्व २ समय के अध्यवसाय-स्थान से उत्तर२ समय के अध्यवसाय-स्थान को अनन्त-गुण-विशुद्ध समझना चाहिये। आठवें गुण-स्थानक से नववें गुणस्थानक में यही विशेषता है कि आठवें गुणस्थानक में तो समान-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त-जीवों के अध्यवसाय,शुद्धि के तरतम-भाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं,परन्तु नववें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त- जीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व पूर्व गुणस्थान-की अपेक्षा उत्तर उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं,और कषाय की(संक्लेशकी)जितनी ही कमी हुई, उतनी ही विशुद्धि जीव के परिणामों की बढ़ जाती है। आठवें गुणस्थान से नववें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नतायें आठवें गुण-स्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

दसवें गुणस्थान की अपेक्षा नववें गुणस्थान में बादर (स्थूल) सम्पराय (कषाय) उदय में आता है। तथा नववें गुणस्थान के सम-समय-वर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती। इसी लिये इस गुणस्थान का "अनि-वृत्तिबादरसम्पराय" ऐसा सार्थक नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है।

नववें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव, दो प्रकार के होते हैं:—एक उपशमक और दूसरे क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं, वे उपशमक और जो

अभाव में इष्ट के सिवा दूसरे अर्थ का भी बोध होने लगता है।]

"उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान" इस नाम में १ उपशान्तकषाय, २ वीतराग और ३ छद्मस्थ, ये तीन विशेषण हैं। जिनमें "छद्मस्थ" यह विशेषण स्वरूप-विशेषण है; क्यों कि उस विशेषण के न होने पर भी शेष भाग से-अर्थात् उपशान्तकषाय-वीतराग-गुणस्थान इतने ही नाम से इष्ट अर्थ का (ग्यारहवें गुणस्थान का) बोध हो जाता है, और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। अतएव छद्मस्थ यह विशेषण अपने विशेष्य का स्वरूपमात्र जमाता है। उपशान्तकषाय और वीतराग ये दो, व्यावर्तक-विशेषण हैं; क्यों कि उनके रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है, और उनके अभाव में इष्ट के सिवा अन्य अर्थ का भी बोध होता है। जैसे—उपशान्त कषाय इस विशेषण के अभाव में वीतरागछद्मस्थ-गुणस्थान इतने नाम से इष्ट-अर्थ के (ग्यारहवें गुणस्थान के) सिवा बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्यों कि बारहवें गुणस्थान में भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण-आदि घाति कर्म) तथा वीतरागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु 'उपशान्त कषाय' इस विशेषण के ग्रहण करने से बारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो सकता; क्यों कि बारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते बल्कि क्षीण हो जाते हैं। इसी तरह वीतराग इस विशेषण के अभाव में "उपशान्तकषाय छद्मस्थ गुणस्थान" इतने नाम से चतुर्थ पंचम-आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। क्यों कि चतुर्थ, पञ्चम आदि गुणस्थानों में भी जीवके अनन्तानुबन्धी कषाय उपशान्त हो

अभाव में इष्ट के सिवा दूसरे अर्थ का भी बोध होने लगता है।]

"उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान" इस नाम में १ उपशान्तकषाय, २ वीतराग और ३ छद्मस्थ, ये तीन विशेषण हैं। जिनमें "छद्मस्थ" यह विशेषण स्वरूप-विशेषण है; क्यों कि उस विशेषण के न होने पर भी शेष भाग से-अर्थात् उपशान्तकषाय-वीतराग-गुणस्थान इतने ही नाम से इष्ट अर्थ का (ग्यारहवें गुणस्थान का) बोध हो जाता है, और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। अतएव छद्मस्थ यह विशेषण अपने विशेष्य का स्वरूपमात्र जनाता है। उपशान्तकषाय और वीतराग ये दो, व्यावर्तक-विशेषण हैं; क्यों कि उनके रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है, और उनके अभाव में इष्ट के सिवा अन्य अर्थ का भी बोध होता है। जैसे—उपशान्त कषाय इस विशेषण के अभाव में वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से इष्ट-अर्थ के (ग्यारहवें गुणस्थान के) सिवा बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्यों कि बारहवें गुणस्थान में भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण-आदि घाति कर्म) तथा वीतरागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु 'उपशान्त कषाय' इस विशेषण के ग्रहण करने से बारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो सकता; क्यों कि बारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते बल्कि क्षीण हो जाते हैं। इसी तरह वीतराग इस विशेषण के अभाव में "उपशान्तकषाय छद्मस्थ गुणस्थान" इतने नाम से चतुर्थ पंचम-आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। क्यों कि चतुर्थ, पञ्चम आदि गुणस्थानों में भी जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय उपशान्त हो

अभाव में इष्ट के सिवा दूसरे अर्थ का भी बोध होने लगता है।]

"उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान" इस नाम में १ उपशान्तकषाय, २ वीतराग और ३ छद्मस्थ, ये तीन विशेषण हैं। जिनमें "छद्मस्थ" यह विशेषण स्वरूप-विशेषण है; क्यों कि उस विशेषण के न होने पर भी शेष भाग से-अर्थात् उपशान्तकषाय-वीतराग-गुणस्थान इतने ही नाम से इष्ट अर्थ का (ग्यारहवें गुणस्थान का) बोध हो जाता है, और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। अतएव छद्मस्थ यह विशेषण अपने विशेष्य का स्वरूपमात्र जनाता है। उपशान्तकषाय और वीतराग ये दो, व्यावर्तक-विशेषण हैं; क्यों कि उनके रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है, और उनके अभाव में इष्ट के सिवा अन्य अर्थ का भी बोध होता है। जैसे—उपशान्त कषाय इस विशेषण के अभाव में वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से इष्ट-अर्थ के (ग्यारहवें गुणस्थान के) सिवा बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्यों कि बारहवें गुणस्थान में भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण-आदि घाति कर्म) तथा वीतरागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु 'उपशान्त कषाय' इस विशेषण के ग्रहण करने से बारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो सकता; क्यों कि बारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते बल्कि क्षीण हो जाते हैं। इसी तरह वीतराग इस विशेषण के अभाव में "उपशान्तकषाय छद्मस्थ गुणस्थान" इतने नाम से चतुर्थ पंचम-आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। क्यों कि चतुर्थ, पञ्चम आदि गुणस्थानों में भी जीवके अनन्तानुबन्धी कषाय उपशान्त हो

[illegible]

[illegible] तिया त्रम

[illegible]ता है अभ

[illegible]ान के पा[illegible]

[illegible] मार दुर्ग[illegible]

[illegible] ये [illegible]

[illegible] यों [illegible]

[illegible] दृष्[illegible]

वक्त भी उस उस गुणस्थान को पा कर वह जीव उन उन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को शुरू कर देता है। अद्धा-क्षय से— अर्थात् गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरनेवाला कोई जीव छट्ठे गुणस्थान तक आता है, कोई पाँचवें गुणस्थान में, कोई चौथे गुणस्थान में और कोई दूसरे गुणस्थान में भी आता है।

यह कहा जा चुका है कि उपशमश्रेणिवाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है। इसका कारण यह है कि उसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति क्षपक-श्रेणि के विना नहीं होती। एक जन्म में दो से अधिक वार उपशम-श्रेणि नहीं की जा सकती और क्षपक-श्रेणि तो एक वार ही होती है। जिसने एक वार उपशम-श्रेणि की है वह उस जन्म में क्षपक-श्रेणि कर मोक्ष को पा सकता है। परन्तु जो दो वार उपशम-श्रेणि कर चुका है वह उस जन्म में क्षपक-श्रेणि कर नहीं सकता। यह तो हुआ "कर्मग्रन्थ" का अभिप्राय। परन्तु सिद्धान्त का अभिप्राय ऐसा है कि जीव एक जन्म में एक वार ही श्रेणि कर सकता है। अतएव जिसने एक वार उपशम-श्रेणि की है वह फिर उसी जन्म में क्षपक-श्रेणि नहीं कर सकता।

उपशम-श्रेणि के आरम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है— चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुबन्धि-कषायों का उपशम करता है और पीछे दर्शनमोहनीय-त्रिक का उपशम करता है। इस के बाद वह जीव छट्ठे तथा सातवें गुणस्थान में सैकड़ों दफ़े आता और जाता है। पीछे

यक्त भी उस उस गुणस्थान को पा कर वह जीव उन उन कर्म प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को शुरू कर देता है। अद्धा-क्षय से— अर्थात् गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरनेवाला कोई जीव छट्ठे गुणस्थान तक आता है, कोई पाँचवें गुणस्थान में, कोई चौथे गुणस्थान में और कोई दूसरे गुणस्थान में भी आता है।

यह कहा जा चुका है कि उपशमश्रेणिवाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है। इसका कारण यह है कि उसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति क्षपक-श्रेणि के बिना नहीं होती। एक जन्म में दो से अधिक बार उपशम-श्रेणि नहीं की जा सकती और क्षपक-श्रेणि तो एक बार ही होती है। जिसने एक बार उपशम-श्रेणि की है वह उस जन्म में क्षपक-श्रेणि कर मोक्ष को पा सकता है। परन्तु जो दो बार उपशम-श्रेणि कर चुका है वह उस जन्म में क्षपक-श्रेणि कर नहीं सकता। यह तो हुआ "कर्मग्रन्थ" का अभिप्राय। परन्तु सिद्धान्त का अभिप्राय ऐसा है कि जीव एक जन्म में एक बार ही श्रेणि कर सकता है। अतएव जिसने एक बार उपशम-श्रेणि की है वह फिर उसी जन्म में क्षपक-श्रेणि नहीं कर सकता।

उपशम-श्रेणि के आरम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है— चौथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुबन्धि-कषायों का उपशम करता है और पीछे दर्शनमोहनीय-त्रिक का उपशम करता है। इस के बाद वह जीव छट्ठे तथा सातवें गुणस्थान में सैकड़ों दफ़े आता और जाता है। पीछे

तथा " वीतराग " इस विशेषण के अभाव में भी क्षीणकषाय-छद्मस्थगुणस्थान इतना ही नाम बारहवें गुणस्थान का ही बोधक नहीं होता किन्तु चतुर्थ आदि गुणस्थानों का भी बोधक हो जाता है; क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबन्धि-आदि कषायों का क्षय हो सकता है। परन्तु "वीतराग" इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ-आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि उन गुणस्थानों में किसी न किसी अंशमें राग का उदय रहता ही है। अतएव वीतरागत्व असंभव है। इस प्रकार "छद्मस्थ" इस विशेषण के न रहने से भी "क्षीणकषाय वीतराग" इतना नाम बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु "छद्मस्थ" इस विशेषण के रहने से बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को छद्म (घातिकर्म) नहीं होता।

बारहवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है। बारहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपक-श्रेणि वाले ही होते हैं।

क्षपक-श्रेणि का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है:—
जो जीव क्षपक-श्रेणि को करनेवाला होता है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सबसे पहले अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन-त्रिक इन सात कर्म-प्रकृतियोंका क्षय करता है। और इसके बाद आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क तथा प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क इन आठ कर्म-प्रकृतियों के

अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् को शब्द द्वारा न पूछकर मन से ही पूछता है। उस समय केवलिभगवान् उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करनेवाला मनःपर्यायज्ञानी या अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् के द्वारा उत्तर देने के लिये संगठित किये गये मनो-द्रव्यों को, अपने मनःपर्यायज्ञान से अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है। और देखकर मनो-द्रव्यों की रचना के आधारसे अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। केवलिभगवान् उपदेश देने के लिये वचन-योग का उपयोग करते हैं। और हलन-चलन-आदि क्रिया-ओं में काययोग का उपयोग करते हैं ॥१३॥

अयोगिकेवलिगुणस्थान—जो केवलिभगवान् योगों से रहित हैं वे अयोगि-केवली कहाते हैं तथा उन का स्वरूप-विशेष "अयोगिकेवलिगुणस्थान" कहाता है।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगि-अवस्था प्राप्त होती है। केवलज्ञानिभगवान्, सयोगि-अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इस के बाद जिन केवली भगवान् के वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति तथा पुद्गल (परमाणु), आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे केवलज्ञानी समुद्घात करते हैं। और समुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति तथा परमाणुओं को आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म, स्थिति में तथा परमाणुओं में आयुकर्म के बराबर हैं

अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् को शब्द द्वारा न पूछकर मन से ही पूछता है। उस समय केवलिभगवान् उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करनेवाला मनःपर्यायज्ञानी या अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् के द्वारा उत्तर देने के लिये संगठित किये गये मनो-द्रव्यों को, अपने मनःपर्यायज्ञान से अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है। और देखकर मनो-द्रव्यों की रचना के आधारसे अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। केवलिभगवान् उपदेश देने के लिये वचन-योग का उपयोग करते हैं। और हलन-चलन-आदि क्रिया-ओं में काययोग का उपयोग करते हैं ॥१३॥

अयोगिकेवलिगुणस्थान—जो केवलिभगवान् योगों से रहित हैं वे अयोगि-केवली कहाते हैं तथा उन का स्वरूप-विशेष "अयोगिकेवलिगुणस्थान" कहाता है।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगि-अवस्था प्राप्त होती है। केवलज्ञानिभगवान्, सयोगि-अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इस के बाद जिन केवली भगवान् के वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति तथा पुद्गल (परमाणु), आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे केवलज्ञानी समुद्घात करते हैं। और समुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति तथा परमाणुओं को आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म, स्थिति में तथा परमाणुओं में आयुकर्म के बराबर हैं

की गुण-श्रेणि से और आयुकर्म की यथास्थितश्रेणि से निर्जरा करना उसे "शैलेशीकरण" कहते हैं। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगि-केवलज्ञानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपग्राहि-कर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं। और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एकसमयमात्र में ऋजु-गति से ऊपर की ओर सिद्धि-क्षेत्र में चले जाते हैं। सिद्धि-क्षेत्र, लोक के ऊपर के भाग में वर्तमान है। इस के आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय-द्रव्य की सहायता अपेक्षित होती है। परन्तु, लोक के आगे—अर्थात् अलोक में धर्मास्तिकाय-द्रव्य का अभाव है। कर्म-मल के हट जाने से शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व-गति इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा, लेपों के हट जाने पर जल के तल से ऊपर की ओर चला आता है ॥ १४ ॥

गुणस्थानों का स्वरूप कहा गया। अब बन्ध के स्वरूप को दिखा कर प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियों को १० गाथाओं से दिखाते हैं:—

अभिनव-कम्म-ग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थवीस-सयं।
तित्थयराहारग-दुग-वज्जं मिच्छंमि सत्तर-सयं॥३॥
('अभिनव-कर्म-ग्रहणं बन्ध ओघेन तत्र विंशति-शतम्।
तीर्थकराहारक-द्विक-वर्जं मिथ्यात्वे सप्तदश-शतम् ॥३॥)

अर्थ—नये कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। सामान्यरूप से—अर्थात् किसी खास गुणस्थान की अथवा किसी जीव-विशेष की विवक्षा किये विना ही, बन्ध में १२० कर्म-प्रकृतियाँ

की गुण-श्रेणि से और आयुकर्म की यथास्थितश्रेणि से निर्जरा करना उसे "शैलेशीकरण" कहते हैं। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगि-केवलज्ञानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपग्राहि-कर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं। और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एकसमयमात्र में ऋजु-गति से ऊपर की ओर सिद्धि-क्षेत्र में चले आते हैं। सिद्धि-क्षेत्र, लोक के ऊपर के भाग में वर्तमान है। इस के आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय-द्रव्य की सहायता अपेक्षित होती है। परन्तु, लोक के आगे—अर्थात् अलोक में धर्मास्तिकाय-द्रव्य का अभाव है। कर्म-मल के हट जाने से शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व-गति इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा, लेपों के हट जाने पर जलके तलसे ऊपरकी ओर चला आता है ॥ १४ ॥

गुणस्थानों का स्वरूप कहा गया। अब बन्ध के स्वरूप को दिखा कर प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियों को १० गाथाओं से दिखाते हैं:—

> अभिनव-कम्म-ग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थवीस-सयं।
> तित्थयराहारग-दुग-वज्जं मिच्छंमि सत्तर-सयं॥३॥
> ('अभिनव-कर्म-ग्रहणं बन्ध ओघेन तत्र विंशति-शतम्।
> तीर्थकराहारक-द्विक-वर्जं मिथ्यात्वे सप्तदश-शतम्॥३॥)

अर्थ—नये कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। सामान्यरूप से—अर्थात् किसी खास गुणस्थान की अथवा किसी जीव-विशेष की विवक्षा किये बिना ही, बन्ध में १२० कर्म-प्रकृतियाँ



जनाने के लिये कर्म-ग्रहण-मात्र को बन्ध न कह कर, गाथा में अभिनव कर्म-ग्रहण को बन्ध कहा है। जीव के मिथ्यात्व-आदि परिणामों के अनुसार कर्म-पुद्गल १२० रूपों में परिणत हो सकते हैं इसीसे १२०-कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध योग्य मानी जाती हैं यद्यपि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय में कर्म-पुद्गलों को १२० रूपों में परिणत नहीं कर सकता—अर्थात् १२० कर्म प्रकृतियों को बाँध नहीं सकता; परन्तु अनेक जीव एक समय में ही१२०कर्म-प्रकृतियों को बाँध सकते हैं।इसी तरह एक जीव भी जुदी जुदी अवस्था में जुदे जुदे समय सब मिला कर १२० कर्म-प्रकृतियों को भी बाँध सकता है। अतएव ऊपर कहा गया है कि किसी खास गुणस्थानकी, और किसी खास जीव की विवक्षा किये बिना बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ १२०-मानी जाती हैं। इसी से १२०-कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को सामान्य बन्ध या ओघ-बन्ध कहते हैं।

बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं:—

१—ज्ञानावरण की ५-कर्म-प्रकृतियाँ,जैसे:-(१)मतिज्ञानावरण,(२)श्रुतज्ञानावरण,(३)अवधिज्ञानावरण,(४)मनः पर्याय-ज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।

२—दर्शनावरण की ९-प्रकृतियाँ, जैसे:-(१) चक्षुर्दर्शनावरण,(२)अचक्षुर्दर्शनावरण,(३ अवधिदर्शनावरण, (४)केवल-दर्शनावरण,(५)निद्रा,(६)निद्रानिद्रा,(७)प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला और (९)स्त्यानर्द्धि।

३—वेदनीय की २-प्रकृतियाँ,जैसे:-(१) सातवेदनीय और (२) असातवेदनीय।

संस्थाननामकर्म, वामनसंस्थाननामकर्म, कुब्जसंस्थाननामकर्म और हुंडसंस्थाननामकर्म ये छः संस्थाननामकर्म (७) वर्णनामकर्म(८) गन्धनामकर्म(९) रसनामकर्म (१०) स्पर्शनामकर्म (११) नरकानुपूर्वीनामकर्म, तिर्यगानुपूर्वीनामकर्म, मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म और देवानुपूर्वीनामकर्म—ये चार आनुपूर्वीनामकर्म (१२) शुभविहायोगतिनामकर्म और अशुभविहायोगति नामकर्म ये दो विहायोगतिनामकर्म-ये ३९ भेद बारह पिण्ड-प्रकृतियों के हुये; क्योंकि बन्धननामकर्म और संघातननामकर्म—इन दो पिण्ड-प्रकृतियों का समावेश शरीरनामकर्म में ही किया जाताहै ।(१)पराघात-नामकर्म,(२)उपघातनामकर्म,(३)उच्छ्वासनामकर्म,(४)आतपनामकर्म,(५)उद्योतनामकर्म,(६) अगुरुलघुनामकर्म, (७) तीर्थङ्करनामकर्म (८) निर्माणनामकर्म-ये आठ प्रत्येकनामकर्म।(१)त्रसनामकर्म,(२)बादरनामकर्म, (३) पर्याप्तनामकर्म,(४) प्रत्येकनामकर्म, (५) स्थिरनामकर्म (६) शुभनामकर्म, (७)सुभगनामकर्म,(८)सुस्वरनामकर्म,(९) आदेयनामकर्म और (१०) यशःकीर्त्तिनामकर्म-ये त्रसदशकनामकर्म (१)स्थावरनामकर्म,(२)सूक्ष्मनामकर्म,(३)अपर्याप्तनामकर्म, (४) साधारणनामकर्म,(५) अस्थिरनामकर्म,(६) अशुभनामकर्म, (७) दुर्भगनामकर्म,(८)दुःस्वर-नामकर्म,अनादेयनामकर्म और (१०) अयशःकीर्त्तिनामकर्म-ये स्थावरदशकनामकर्म । ये कुल ६७ भेद हुये ।

७—गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ- जैसेः-(१) उच्चैर्गोत्र और (२) नीचैर्गोत्र ।

८—अन्तरायकर्म की५-कर्म-प्रकृतियाँ, जैसे;—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय,(३)भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, और (५) वीर्यान्तराय ।

इन १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद मिथ्यादृष्टिगुणस्थान के अन्त में ही हो जाता है। इस से वे १६कर्म-प्रकृतियाँ पहले गुणस्थान से आगे नहीं बाँधी जा सकतीं तथा तिर्यञ्च-त्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क, मध्यमसंस्थानचतुष्क, मध्यमसंहननचतुष्क, नीच-गोत्र, उद्योतनामकर्म, अशुभविहायोगतिनामकर्म और स्त्रीवेद इन २५-कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में ही हो जाता है। इस से दूसरे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में उन २५-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो नहीं सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त १०१-कर्म-प्रकृतियों में से तिर्यञ्च-त्रिक-आदि उक्त२५ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ७६-कर्म-प्रकृतियाँ रह जाती हैं। उन ७६-कर्म-प्रकृतियों में से भी मनुष्य-आयु तथा देव-आयु को छोड़कर शेष ७४ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में (तीसरे गुणस्थान में) हो सकता है ॥४॥

भावार्थ—नरकगति, नरक-आनुपूर्वी और नरक-आयु-इन तीन कर्म-प्रकृतियों को नरकत्रिक शब्द से लेना चाहिये जातिचतुष्क-शब्द का मतलब एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रियजाति इन चार जातिनामकर्मों से है। स्थावरचतुष्कशब्द, स्थावरनामकर्म से साधारण-नामकर्म-पर्यन्त चार कर्म-प्रकृतियों का बोधक है। वे चार प्रकृतियाँ ये हैं-स्थावरनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्त-नामकर्म और साधारणनामकर्म।

नरक-त्रिक से लेकर मिथ्यात्व-मोहनीय-पर्यन्त, जो-१६ कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर दिखाई गई हैं वे अत्यन्त अशुभरूप हैं

ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन और कीलिकासंहनन ।

तिर्यञ्चत्रिक से लेकर स्त्रीवेदपर्यन्त जो २५-कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर कही हुई हैं उन का बन्ध अनन्तानुबन्धि-कषाय के उदय से होता है । अनन्तानुबन्धिकषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थानक में ही होता है, तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं । इसी से तिर्यञ्चत्रिक-आदि उक्त पच्चीस कर्म-प्रकृतियाँ भी दूसरे गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त ही बाँधी जा सकती हैं,परन्तु तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं बाँधी जा सकतीं । तीसरे गुणस्थान के समय जीव का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जिस से उस समय आयु का बन्ध होने नहीं पाता । इसी से मनुष्य-आयु तथा देव-आयु इन दो आयुओं का बन्ध भी तीसरे गुणस्थानक में नहीं होता। नरक-आयु तो नरकत्रिक-आदि पूर्वोक्त १६-कर्म-प्रकृतियों में ही गिनी जा चुकी है तथा तिर्यञ्च-आयु भी तिर्यञ्चत्रिक-आदि पूर्वोक्त पच्चीस कर्म-प्रकृतियों में आ जाती है । इस प्रकार दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य जो १०१-कर्म-प्रकृतियाँ हैं उन में से तिर्यञ्चत्रिक-आदि पूर्वोक्त २५-तथा मनुष्य-आयु और देव-आयु कुल २७-कर्म-प्रकृतियों के घट जाने से शेष ७४ कर्म-प्रकृतियाँ तीसरे गुणस्थानक में बन्ध योग्य रहती हैं ॥ ५ ॥

सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि, वइर नरतिग वियकसाया ।
उरल दुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वे सप्तसप्तति जिनायुर्बन्धे,वज्रनरत्रिक द्वितीय कषाया
औदारिकद्विकान्तो देशे. सप्तषष्टिस्तृतीयकषायान्तः ॥ ६ ॥

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ, अथिर दुग अजस अस्सायं ।

में नहीं होता । यदि कोई जीव छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर देता है, तो उस जीव की अपेक्षा से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म-प्रकृतियाँ तथा देवआयु कुल ७-कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध-विच्छेद छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय में माना जाता है ॥ ७ ॥

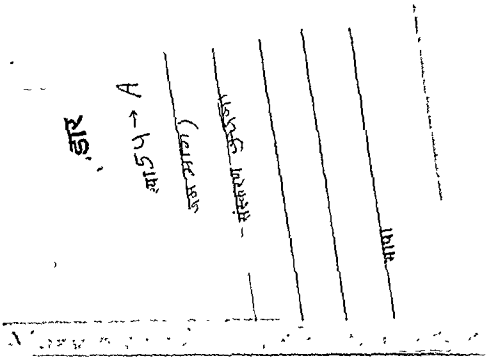
जो जीव छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये विना ही, सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है अर्थात्-छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु का बन्ध प्रारम्भ कर सातवें गुणस्थान में ही उसे समाप्त करता है,उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५९-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है । इसके विपरीत जो जीव छट्ठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देव-आयु के बन्ध को, छट्ठे गुणस्थान में ही समाप्त करता है-अर्थात् देव-आयु का बन्ध समाप्त करने के बाद ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है; क्योंकि सातवें गुणस्थान में आहारकद्विक का बन्ध भी हो सकता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधा जा सकता है। तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक, मनुष्य-आयु को बाँधते हैं। और चतुर्थ गुणस्थान-वर्ती मनुष्य तथा तिर्यञ्च देव-आयु को बाँधते हैं। इसी तरह चौथे गुणस्थान में उन ७४ कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध हो सकता है,जिनका कि बन्ध तीसरे गुणस्थान में होता है अत-एव सब मिलाकर ७७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थानक

में नहीं होता । यदि कोई जीव छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर देता है, तो उस जीव की अपेक्षा से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म-प्रकृतियाँ तथा देवआयु कुल ७-कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध-विच्छेद छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय में माना जाता है ॥ ७ ॥

जो जीव छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये बिना ही, सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है अर्थात्-छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु का बन्ध प्रारम्भ कर सातवें गुणस्थान में ही उसे समाप्त करता है, उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५९-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है । इसके विपरीत जो जीव छट्ठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देव-आयु के बन्ध को, छट्ठे गुणस्थान में ही समाप्त करता है-अर्थात् देव-आयु का बन्ध समाप्त करने के बाद ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है; क्योंकि सातवें गुणस्थान में आहारकद्विक का बन्ध भी हो सकता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधा जा सकता है। तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक, मनुष्य-आयु को बाँधते हैं। और चतुर्थ गुणस्थान-वर्ती मनुष्य तथा तिर्यञ्च देव-आयु को बाँधते हैं। इसी तरह चौथे गुणस्थान में उन ७४ कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध हो सकता है, जिनका कि बन्ध तीसरे गुणस्थान में होता है अत-एव सब मिलाकर ७७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थानक



वन्ध पञ्चम-गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि छट्ठे आदि गुणस्थानों में उन कषायों का उदय ही नहीं है। इस लिये पाँचवें गुणस्थान की वन्ध-योग्य ६७ कर्म-प्रकृतियों में से, प्रत्याख्यानवरण-क्रोध-आदि उक्त चार कषायों को छोड़ कर शेष ६३ कर्म-प्रकृतियों का वन्ध छट्ठे गुणस्थानक में माना जाता है।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के वन्ध का प्रारम्भ कर, उसे उस गुणस्थान में समाप्त किये विना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं; और फिर सातवें गुणस्थान में ही देव-आयु के वन्ध को समाप्त करते हैं। तथा दूसरे वे, जो देव-आयु के वन्ध का प्रारम्भ तथा उसकी समाप्ति दोनों छट्ठे गुणस्थान में ही करते हैं और अनन्तर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय में अरति, शोक, अस्थिर-नाम-कर्म, अशुभनाम-कर्म, अयशःकीर्तिनाम-कर्म और असातवेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियों का वन्धविच्छेद होता है। और दूसरे प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उक्त ६-कर्म प्रकृतियाँ तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों का वन्ध-विच्छेद होता है। अतएव छट्ठे गुणस्थान की वन्ध-योग्य ६३-कर्म-प्रकृतियों में से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म प्रकृतियों के घटादेने पर, पहले प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में वन्ध योग्य५७-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहतीहैं।और अरति, शोक-आदि उक्त६-तथा देव-आयु, कुल७ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने पर दूसरे प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में वन्ध-योग्य ५६-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती

बन्ध पञ्चम-गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि छट्ठे आदि गुणस्थानों में उन कषायों का उदय ही नहीं है। इस लिये पाँचवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६७ कर्म-प्रकृतियों में से, प्रत्याख्यानावरण-क्रोध-आदि उक्त चार कषायों को छोड़ कर शेष ६३ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध छट्ठे गुणस्थानक में माना जाता है।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर, उसे उस गुणस्थान में समाप्त किये विना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं; और फिर सातवें गुणस्थान में ही देव-आयु के बन्ध को समाप्त करते हैं। तथा दूसरे वे, जो देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ तथा उसकी समाप्ति दोनों छट्ठे गुणस्थान में ही करते हैं और अनन्तर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय में अरति, शोक, अस्थिर-नाम-कर्म, अशुभनाम-कर्म, अयशःकीर्तिनाम-कर्म और असातवेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। और दूसरे प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उक्त ६-कर्म प्रकृतियाँ तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद होता है। अतएव छट्ठे गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६३-कर्म-प्रकृतियों में से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म प्रकृतियों के घटादेने पर, पहले प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध योग्य५७-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहतीहैं।और अरति,शोक-आदि उक्त६-तथा देव-आयु,कुल७ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने पर दूसरे प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध-योग्य ५६-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती

बन्ध पञ्चम-गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि छट्ठे आदि गुणस्थानों में उन कषायों का उदय ही नहीं है। इस लिये पाँचवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६७ कर्म-प्रकृतियों में से, प्रत्याख्यानवरण-क्रोध-आदि उक्त चार कषायों को छोड़ कर शेष ६३ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध छट्ठे गुणस्थानक में माना जाता है।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर, उसे उस गुणस्थान में समाप्त किये विना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं; और फिर सातवें गुणस्थान में ही देव-आयु के बन्ध को समाप्त करते हैं। तथा दूसरे वे, जो देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ तथा उसकी समाप्ति दोनों छट्ठे गुणस्थान में ही करते हैं और अनन्तर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय में अरति, शोक, अस्थिर-नाम-कर्म, अशुभनाम-कर्म, अयशःकीर्तिनाम-कर्म और असातवेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। और दूसरे प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उक्त ६-कर्म प्रकृतियाँ तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद होता है। अतएव छट्ठे गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६३-कर्म-प्रकृतियों में से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म प्रकृतियों के घटा देने पर, पहले प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध योग्य ५७-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। और अरति, शोक-आदि उक्त ६-तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने पर दूसरे प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध-योग्य ५६-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती

द पहले भाग के अन्त में ही हो जाता है। इस से वे दो कर्म-प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के पहले भाग के आगे बाँधी नहीं जा सकतीं । तथा सुरद्विक (२) (देवगति देव आनुपूर्वी,) पञ्चेन्द्रियजाति.(३) शुभ-विहायोगति(४).त्रसनवक(१३)(त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर. शुभ, सुभग. सुस्वर और आदेय). औदारिक शरीर के सिवा चार शरीर नामकर्म,जैसेः-वैक्रियशरीरनामकर्म (१४), आहारक-शरीरनामकर्म (१५), तैजसशरीरनामकर्म (१६,) और कार्मण-शरीरनामकर्म (१७). औदारिक-अङ्गोपाङ्ग को छोड़कर दो अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग (१८) तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग १९)॥ समचतुरस्रसंस्थान(२०),निर्माणनामकर्म(२१),तीर्थङ्करनामकर्म(२२), वर्ण(२३),गन्ध(२४),रस(२५)और स्पर्शनामकर्म(२६,)अगुरुलघुचतुष्क; जैसे;-अगुरुलघुनामकर्म(२७)उपघातनामकर्म(२८) पराघातनामकर्म (२९), और उच्छ्वासनामकर्म (३०) ये नाम कर्म की (३० प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक ही बाँधी जाती हैं; इस से आगे नहीं । अतएव पूर्वोक्त ५६-कर्म-प्रकृतियों में से नाम-कर्म की इन ३०-प्रकृतियों के घटा देने पर शेष २६-कर्म प्रकृतियों का ही बन्ध आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में होता है । हास्य, रति, जुगुप्सा और भय इन नो-कषाय—मोहनीयकर्मकी चार प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अन्तिम समय में हो जाता है । इस से उन ४ प्रकृतियों का बन्ध नववें आदि गुणस्थानों में नहीं होता ॥१०॥

अतएव पूर्वोक्त २६-कर्म-प्रकृतियों में से हास्य-आदि उक्त

कषायोदय का सर्वथा अभाव ही होता है। अतएव योग-मात्र से होनेवाला वह सात-वेदनीय का बन्ध, मात्र दो समयों की स्थिति का ही होता है।

चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाता है, इसी से सात-वेदनीय का बन्ध भी उस गुणस्थान में नहीं होता, और अबन्धकत्व अवस्था प्राप्त होती है। जिन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध जितने कारणों से होता है, उतने कारणों के रहने तक ही, उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है। और उतने कारणों में से किसी एक कारण के कम हो जाने से भी, उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। शेष सब कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। जैसेः—नरक-त्रिक-आदि पूर्वोक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन चार कारणों से होता है। ये चारों कारण पहले गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त रहते हैं इस लिये उक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी उस समयपर्यन्त हो सकता है, परन्तु पहले गुणस्थान से आगे मिथ्यात्व-आदि उक्त चार कारणों में से मिथ्यात्व नहीं रहता, इस से नरकत्रिक-आदि पूर्वोक्त १६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी पहले गुणस्थान से आगे नहीं होता; और सब कर्म-प्रकृतियों का बन्ध यथासम्भव होता ही है। इस प्रकार दूसरी २ कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का अन्त (विच्छेद) और अन्ताभाव (विच्छेदाभाव) ये दोनों, बन्ध के हेतु के विच्छेद और अविच्छेद पर निर्भर हैं ॥१२॥

———:O:———

बन्धाधिकार समाप्त ॥

ओ३म

उदयाधिकार

पहले उदय और उदीरणा का लक्षण कहते हैं, अनन्तर प्रत्येकगुणस्थान में जितनी २ कर्म-प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है उनको बारह गाथाओं से दिखाते हैं

उदओ विवाग-वेयण मुदीरण मुपत्ति इह दुवीससयं ।
सतर-सयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणणुदया ॥ १३ ॥
उदयो विपाक-वेदन मुदीरण मप्राप्त इह द्वाविंशति-शतम् ।
सप्तदश-शतं मिथ्यात्वे मिश्र-सम्यगाहारक-जिनानुदयात् १३

अर्थ-विपाक का समय प्राप्त होने पर ही कर्म के विपाक (फल)को भोगना उदय कहाता है।और विपाक का समय प्राप्त न होने पर कर्म फल को भोगना उसे 'उदीरणा'कहते हैं। उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ१२२ हैं। उन में से ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में हो सकता है क्योंकि १२२ में से मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय,आहारक-शरीर,आहारक-अङ्गोपाङ्ग और तीर्थङ्करनामकर्म इन पाँच कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में नहीं होता ॥ १६ ॥

भावार्थ-आत्मा के साथ लगे हुये कर्म-दलिक, नियत-समय पर अपने शुभाशुभ-फलों का जो अनुभव कराते हैं यह "उदय" कहाता है। कर्म-दलिकों को प्रयत्न-विशेष से खींचकर नियत-समय के पहले ही उन के शुभा-

सुहुम-तिगायवं मिच्छं मिच्छंतं सासेण इगार-सयं ।
निरयाणुपुव्वि-णुदया अण-थावर-इग-विगल-अंतो ॥ १४ ॥
सूक्ष्म-त्रिकातप-मिथ्यं मिथ्यान्तं सास्वादन एकादश-शतम् ।
निरयानुपूर्व्यनुदया दनस्थावरैकविकलान्तः॥१४॥
मीसे सयमणुपुव्वी-णुदयामीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बिय-कसाया ॥ १५ ॥
मिश्रे शत मानुपूर्व्यनुदयान्मिश्रोदयेन मिश्रान्तः ।
चतुःशतमयते सम्यगानुपूर्वीक्षेपाद्द्वितीयकषायाः ॥ १५ ॥
मणुतिरिणु पुव्विविउवट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ ।
सगसीइ देसि तिरिगइ आउ निउज्जोय तिकसाया ॥१६॥
मनुज-तिर्यगानुपूर्वी-वैक्रियाष्टकदुर्भगमनादेयद्विकसप्तदशच्छेद
सप्ताशितिर्देशे तिर्यग्गत्यायुर्नीचोद्योत-तृतीय-कषायाः१६
अट्ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा ।
थीणतिगाहारग-दुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥
अष्टच्छेद एकाशितिः प्रमत्ते आहारक-युगलप्रक्षेपात् ।
स्त्यानर्द्धित्रिकाहारक-द्विकच्छेदः षट्-सप्तति रप्रमत्ते ॥१७॥

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है, क्योंकि जिन ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में होता है उनमें से सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनामकर्म और साधारणनामकर्म) आतपनामकर्म मिथ्यात्वमोहनीय और नरकानुपूर्वी—इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान में वर्तमान-जीवों को नहीं होता। अनन्तानुबन्धी चार कषाय, स्थावरनामकर्म, एकेन्द्रिय-जातिनामकर्म, विकलेन्द्रिय(द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय)जाति-नामकर्म ॥१४॥ और शेष आनुपूर्वी तीन अर्थात् तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुजानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन १२ कर्म-प्रकृतियों का उदय

उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों को घटाने से,शेष(७९)कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। उनमें आहारकशरीरनामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म इन दो प्रकृतियों के मिलाने से कुल हुई (८१)कर्म-प्रकृतियाँ। छट्ठे गुणस्थान में इन्हीं (८१)कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

सातवें गुणस्थान में ७६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि पूर्वोक्त (८१)-कर्म-प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहरकाद्विक इन (५) कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है; आगे के गुणस्थानों में नहीं ॥१७॥

भावार्थ—सूक्ष्मनामकर्म-का उदय, सूक्ष्म-जीवों को ही अपर्याप्त-नाम कर्म का उदय, अपर्याप्त-जीवों को ही और साधारण-नाम-कर्म का उदय अनन्त-कायिक-जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और अनन्त-कायिक जीवों को न तो सास्वादन-सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न कोई सास्वादन-प्राप्त-जीव, सूक्ष्म, अपर्याप्त या अनन्तकायिक रूपसे पैदा होता है। तथा आतप-नाम-कर्म का उदय बादर-पृथिवि-कायिक जीवको ही होता है सो भी शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही; पहले नहीं। परन्तु सासादन-सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर-पृथ्वी-काय में जन्म ग्रहण करते हैं वे शरीर-पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही-अर्थात् आतपनामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही-पूर्वप्राप्तसास्वादन-सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं अर्थात् बादर-पृथ्वी-कायिक-जीवों को, जब सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव होता है

उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों को घटाने से,शेष(७६)कर्म-प्रकतियाँ रहती हैं। उनमें आहारकशरीरनामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म इन दो प्रकृतियों के मिलाने से कुल हुईं (८१)कर्म-प्रकृतियाँ। छट्ठे गुणस्थान में इन्हीं (८१)कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

सातवें गुणस्थान में ७६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि पूर्वोक्त (८१)-कर्म-प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहरकाद्विक इन (५) कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है; आगे के गुणस्थानों में नहीं ॥१७॥

भावार्थ---सूक्ष्मनामकर्म-का उदय, सूक्ष्म-जीवों को ही अपर्याप्त-नाम कर्म का उदय, अपर्याप्त-जीवों को ही और साधारण-नाम-कर्म का उदय अनन्त-कायिक-जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और अनन्त-कायिक जीवों को न तो सास्वादन-सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न कोई सास्वादन-प्राप्त-जीव, सूक्ष्म, अपर्याप्त या अनन्तकायिक रूपसे पैदा होता है। तथा आतप-नाम-कर्म का उदय बादर-पृथिवि-कायिक जीवको ही होता है सो भी शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही; पहले नहीं। परन्तु सासादन-सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर-पृथ्वी-काय में जन्म ग्रहण करते हैं वे शरीर-पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही-अर्थात् आतपनामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही-पूर्वप्राप्तसास्वादन-सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं अर्थात् बादर-पृथ्वी-कायिक-जीवों को, जब सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव होता है

उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों को घटाने से,शेष(७६)कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। उनमें आहारकशरीरनामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म इन दो प्रकृतियों के मिलाने से कुल हुई (८१)कर्म-प्रकृतियाँ। छट्ठे गुणस्थान में इन्हीं (८१)कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

सातवें गुणस्थान में ७६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि पूर्वोक्त (८१)-कर्म-प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहरकाद्विक इन (५) कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है; आगे के गुणस्थानों में नहीं ॥१७॥

भावार्थ—सूक्ष्मनामकर्म-का उदय, सूक्ष्म-जीवों को ही अपर्याप्त-नाम कर्म का उदय, अपर्याप्त-जीवों को ही और साधारण-नाम-कर्म का उदय अनन्त-कायिक-जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और अनन्त-कायिक जीवों को न तो सास्वादन-सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न कोई सास्वादन-प्राप्त-जीव, सूक्ष्म, अपर्याप्त या अनन्तकायिक रूपसे पैदा होता है। तथा आतप-नाम-कर्म का उदय बादर-पृथिवि-कायिक जीवको ही होता है सो भी शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही; पहले नहीं। परन्तु सासादन-सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर-पृथ्वी-काय में जन्म ग्रहण करते हैं वे शरीर-पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही-अर्थात् आतपनामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही-पूर्वप्राप्तसास्वादन-सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं अर्थात् बादर-पृथ्वी-कायिक-जीवों को, जब सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव होता है

उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों को घटाने से,शेष(७६)कर्म-प्रकतियाँ रहती हैं। उनमें आहारकशरीरनामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म इन दो प्रकृतियों के मिलाने से कुल हुई (८१)कर्म-प्रकृतियाँ। छट्ठे गुणस्थान में इन्हीं (८१)कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

सातवें गुणस्थान में ७६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि पूर्वोक्त (८१)-कर्म-प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहरकाद्विक इन (५) कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है; आगे के गुणस्थानों में नहीं ॥१७॥

भावार्थ—सूक्ष्मनामकर्म-का उदय, सूक्ष्म-जीवों को ही अपर्याप्त-नाम कर्म का उदय, अपर्याप्त-जीवों को ही और साधारण-नाम-कर्म का उदय अनन्त-कायिक-जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और अनन्त-कायिक जीवों को न तो सास्वादन-सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न कोई सास्वादन-प्राप्त-जीव, सूक्ष्म, अपर्याप्त या अनन्तकायिक रूपसे पैदा होता है। तथा आतप-नाम-कर्म का उदय बादर-पृथिवि-कायिक जीवको ही होता है सो भी शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही; पहले नहीं। परन्तु सासादन-सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर-पृथ्वी-काय में जन्म ग्रहण करते हैं वे शरीर-पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही-अर्थात् आतपनामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही-पूर्वप्राप्तसास्वादन-सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं अर्थात् बादर-पृथ्वी-कायिक-जीवों को, जब सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव होता है

चतुरिन्द्रिय-पर्यन्त के जीवों में, पहला या दूसरा दो ही गुणस्थान हो सकते हैं। आनुपूर्वी का उदय जीवों को उसी समय में होता है जिस समय कि वे दूसरे स्थान में जन्म ग्रहण करने के लिये वक्रगति से जाते हैं। परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव मरता नहीं है; इससे आनुपूर्वी-नाम-कर्म के उदयवाले जीवों में तीसरे गुणस्थान की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। अतएव दूसरे गुणस्थान में जिन १११-कर्म-प्रकृतियों का उदय माना जाता है उनमें से अनन्तानुबन्धि-कषाय-आदि पूर्वोक्त १२-कर्म-प्रकृतियों को छोड़ देने से ९९-कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग्य रहती हैं। मिश्र-मोहनीयकर्म का उदय भी तीसरे गुणस्थान में अवश्य ही होता है इसीलिये, उक्त ९९ और १ मिश्रमोहनीय, कुल १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय उस गुणस्थान में माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में जिन १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है उन में से मिश्रमोहनीय के सिवा, शेष ९९ ही कर्म-प्रकृतियों का उदय चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों को हो सकता है। तथा चतुर्थगुणस्थान के समय सम्यक्त्व-मोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वी-नामकर्मों के उदय का सम्भव है; इसीलिये पूर्वोक्त ९९ और सम्यक्त्व-मोहनीय-आदि (५), कुल १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, उक्त गुणस्थान में वर्तमानजीवों को माना जाता है।

जब तक अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय रहता है तब तक जीवों को पञ्चम गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय, पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों में ही समझना

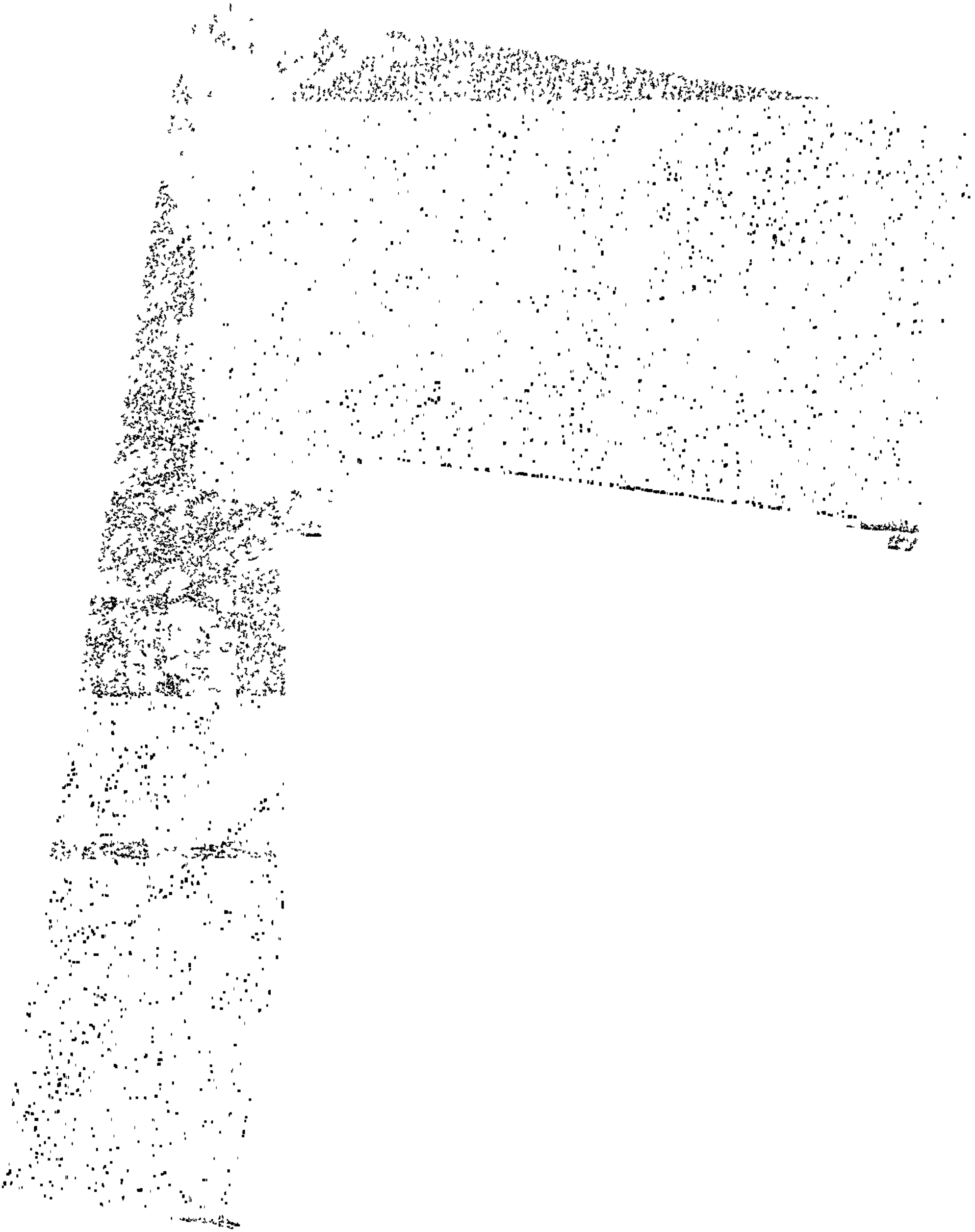
तब आतपनामकर्म के उदय का सम्भव नहीं और जिस समय आतपनामकर्म का सम्भव होता है उस समय उन को सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव नहीं है। तथा मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में ही होता है किन्तु सास्वादन सम्यक्त्व पहले गुणस्थान के समय, कदापि नहीं होता। इससे मिथ्यात्व के उदय का और सम्यक्त्व का किसी भी जीव में एक समय में होना असंभव है। इसी प्रकार नरक-आनुपूर्वी का उदय, वक्रगति से नरक में जानेवाले जीवों को होता है। परन्तु उन जीवों को उस अवस्था में सास्वादन-सम्यक्त्व नहीं होता। इससे नरक-आनुपूर्वी का उदय और सास्वादन-सम्यक्त्व इन दोनों का किसी भी जीव में एक साथ होना असम्भव है। अतएव सासादन-सम्यग्दृष्टिनामक दूसरे गुणस्थान में सूक्ष्म नामकर्म से लेकर नरक- आनुपूर्वीपर्यन्त ६-कर्म-प्रकृतियों के उदय का निषेध किया है, और पहले गुणस्थान की उदययोग्य कर्म-प्रकृतियों में से उक्त ६-प्रकृतियों को छोड़कर, शेष कर्म-प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान के समय माना गया है। अनन्तानुबन्धी-कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान में ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। तथा स्थावर-नामकर्म, एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, और चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म के उदयवाले जीवों में, तीसरे गुणस्थान से लेकर आगे का कोई भी गुणस्थान नहीं होता। क्योंकि स्थावर-नामकर्म का और एकेन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवों को होता है। तथा द्वीन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय द्वीन्द्रियों को; त्रीन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय त्रीन्द्रियों को और चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय

चतुरिन्द्रिय-पर्यन्त के जीवों में, पहला या दूसरा दो ही गुणस्थान हो सकते हैं। आनुपूर्वी का उदय जीवों को उसी समय में होता है जिस समय कि वे दूसरे स्थान में जन्म ग्रहण करने के लिये वक्रगति से जाते हैं। परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव मरता नहीं है; इससे आनुपूर्वी-नाम-कर्म के उदयवाले जीवों में तीसरे गुणस्थान की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। अतएव दूसरे गुणस्थान में जिन १११-कर्म-प्रकृतियों का उदय माना जाता है उनमें से अनन्तानुबन्धि-कषाय-आदि पूर्वोक्त १२-कर्म-प्रकृतियों को छोड़ देने से ९९-कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग्य रहती हैं। मिश्र-मोहनीयकर्म का उदय भी तीसरे गुणस्थान में अवश्य ही होता है इसीलिये, उक्त ९९ और १ मिश्रमोहनीय, कुल १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय उस गुणस्थान में माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में जिन १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है उन में से मिश्रमोहनीय के सिवा, शेष ९९ ही कर्म-प्रकृतियों का उदय चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों को हो सकता है। तथा चतुर्थगुणस्थान के समय सम्यक्त्व-मोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वी-नामकर्मों के उदय का सम्भव है; इसीलिये पूर्वोक्त ९९ और सम्यक्त्व-मोहनीय-आदि (५), कुल १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, उक्त गुणस्थान में वर्तमानजीवों को माना जाता है।

जब तक अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय रहता है तब तक जीवों को पञ्चम गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय, पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों में ही समझना

चतुरिन्द्रिय-पर्यन्त के जीवों में, पहला या दूसरा ही गुणस्थान हो सकते हैं। आनुपूर्वी का उदय जीवों को उसी समय में होता है जिस समय कि वे दूसरे स्थान में जन्म ग्रहण करने के लिये वक्रगति से जाते हैं। परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव मरता नहीं है; इसलिये आनुपूर्वी-नामकर्म के उदयवाले जीवों में तीसरे गुणस्थान की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। अतएव दूसरे गुणस्थान में जिन १११ कर्म-प्रकृतियों का उदय माना जाता है उनमें से अनन्तानुबन्धि-कषाय-आदि पूर्वोक्त १२-कर्म-प्रकृतियों को घटा देने से ९९-कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग्य रहती हैं। मिश्र-मोहनीयकर्म का उदय भी तीसरे गुणस्थान में अवश्य ही होता है इसीलिये, उक्त ९९ और १ मिश्रमोहनीय, कुल १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में जिन १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है उन में से मिश्रमोहनीय के सिवा, शेष ९९ ही कर्म-प्रकृतियों का उदय चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों को हो सकता है। तथा चतुर्थगुणस्थान के समय सम्यक्त्व-मोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वी-नामकर्मों के उदय का सम्भव है; इसीलिये पूर्वोक्त ९९ और सम्यक्त्व-मोहनीय-आदि (५), कुल १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, उक्त गुणस्थान में वर्तमानजीवों को माना जाता है।

जब तक अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय रहता है तब तक जीवों को पञ्चम गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय, पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों में ही समझना



तुरिन्द्रिय-पर्यन्त के जीवों में, पहला या दूसरा दो ही गुणस्थान हो सकते हैं। आनुपूर्वी का उदय जीवों को उसी समय में होता है जिस समय कि वे दूसरे स्थान में जन्म ग्रहण करने के लिये वक्रगति से जाते हैं। परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव मरता नहीं है; इससे आनुपूर्वी-नाम-कर्म के उदयवाले जीवों में तीसरे गुणस्थान की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। अतएव दूसरे गुणस्थान में जिन १११-कर्म-प्रकृतियों का उदय माना जाता है उनमें से अनन्तानुबन्धि-कषाय-आदि पूर्वोक्त १२-कर्म-प्रकृतियों को छोड़ देने से ९९-कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग्य रहती हैं। मिश्र-मोहनीयकर्म का उदय भी तीसरे गुणस्थान में अवश्य ही होता है इसीलिये, उक्त ९९ और १ मिश्रमोहनीय, कुल १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय उस गुणस्थान में माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में जिन १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है उन में से मिश्रमोहनीय के सिवा, शेष ९९ ही कर्म-प्रकृतियों का उदय चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों को हो सकता है। तथा चतुर्थगुणस्थान के समय सम्यक्त्व-मोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वी-नामकर्मों के उदय का सम्भव है; इसीलिये पूर्वोक्त ९९ और सम्यक्त्व-मोहनीय-आदि (५), कुल १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, उक्त गुणस्थान में वर्तमानजीवों को माना जाता है।

जब तक अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय रहता है तब तक जीवों को पञ्चम गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय, पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों में ही समझना

उन मनुष्यों को तथा तिर्यञ्चों को, वैक्रियशरीरनाम-कर्म का तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय अवश्य रहता है इसलिये, यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि पाँचवें तथा छट्ठे गुणस्थानकी उदय-योग्य प्रकृतियों में वैक्रिय-शरीर-नाम-कर्म तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म इन दो प्रकृतियों की गणना क्यों नहीं की जाती है ? तथापि इस का समाधान इतना ही है कि, जिनको जन्मपर्यन्त वैक्रिय शरीर-नामकर्म का तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय रहता है उनकी (देव तथा नारकों की) अपेक्षा से ही उक्त दो प्रकृतियों के उदयका विचार इस जगह किया गया है । मनुष्यों में और तिर्यञ्चों में तो कुछ समय के लिये ही उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, सो भी सब मनुष्यों और तिर्यञ्चों में नहीं । इसी से मनुष्यों और तिर्यञ्चों की अपेक्षा से पाँचवें तथा छट्ठे गुणस्थान में, उक्त दो कर्म-प्रकृतियों के उदय का सम्भव होने पर भी, उस की विवक्षा नहीं की है ।

जिन ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में माना जाता है उन में से तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्च-आयु, नीच-गोत्र, उद्योत-नामकर्म और प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क इन ८ कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर, शेष ७९—कर्म प्रकृतियों का उदय, छट्ठे गुणस्थान में हो सकता है । तिर्यञ्च-गति-आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों का उदय, पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है, आगे नहीं । इस का कारण यह है कि, तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्च-आयु और उद्योत-नामकर्म इन तीन प्रकृतियों का उदय तो तिर्यञ्चों को ही होता है परन्तु तिर्यञ्चों में पहले पाँच गुणस्थान ही हो सकते हैं, आगे के गुणस्थान नहीं । नीच गोत्र-का उदय

भी मनुष्यों को चार गुणस्थान तक ही हो सकता है। पञ्चम आदि गुणस्थान प्राप्त होने पर, मनुष्यों में ऐसे गुण प्रकट होते हैं कि जिनसे उन में नीच-गोत्र का उदय हो ही नहीं सकता और उच्च-गोत्र का उदय अवश्य हो जाता है। परन्तु तिर्यञ्चों को तो अपने योग्य सब गुणस्थानों में— अर्थात् पाँचों गुणस्थानों में स्वभाव से ही नीचगोत्र का उदय रहता है; उच्च-गोत्र का उदय होता ही नहीं। तथा प्रत्याख्यानावरण चार कषायों का उदय जब तक रहता है तब तक छठे गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती; और छट्ठे आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने के बाद भी प्रत्याख्यानावरणकषायों का उदय हो नहीं सकता। इस प्रकार तिर्यञ्च-गति आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों के बिना जिन ७९-कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान में होता है उन में आहारक-शरीर-नामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म, ये दो प्रकृतियाँ और भी मिलानी चाहिये जिससे छट्ठे गुणस्थान में उदय-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ ८१ होती हैं। छट्ठे गुणस्थान में आहारक-शरीर-नामकर्म का तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय उस समय पाया जाता है जिस समय कि कोई चतुर्दश-पूर्वधर-मुनि, लब्धि के द्वारा आहारक-शरीर की रचना कर उसे धारण करते हैं। जिस समय कोई वैक्रिय-लब्धिधारी मुनि, लब्धि से वैक्रिय-शरीर को बनाकर उसे धारण करता है उस समय उसको उद्योत-नामकर्म का उदय होता है। क्योंकि शास्त्र में इस आशय का कथन पाया जाता है कि यति को वैक्रिय-शरीर धारण करते समय और देव को उत्तर-वैक्रिय-शरीर धारण करते समय उद्योत-नामकर्म का उदय होता है। अब इस जगह यह शङ्का हो सकती है कि जब

वैक्रिय-शरीरियति की अपेक्षा से छट्ठे गुणस्थान में भी उद्योत नामकर्म का उदय पाया जाता है तब पाँचवें गुणस्थान तक ही उसका उदय क्यों माना जाता है? परन्तु इसका समाधान सिर्फ इतना ही है कि जन्म के स्वभाव से उद्योत-नामकर्म का जो उदय होता है वही इस जगह विवक्षित है; लब्धि के निमित्त से होनेवाला उद्योत-नामकर्म का उदय विवक्षित नहीं है। छट्ठे गुणस्थान में उदययोग्य जो ८१ कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं उनमें से स्त्यानर्द्धि-त्रिक और आहारक-द्विक इन पाँच कर्म-प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय प्रमादरूप है, परन्तु छट्ठे से आगे किसी भी गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता। इस प्रकार आहारक-शरीर-नामकर्म का तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय, आहारक-शरीर रचनेवाले मुनि को ही होता है। परन्तु वह मुनि लब्धि का प्रयोग करनेवाला होने से अवश्य ही प्रमादी होता है। जो लब्धि का प्रयोग करता है वह उत्सुक हो ही जाता है। उत्सुकता हुई कि स्थिरता या एकाग्रता का भंग हुआ। एकाग्रता के भंग को ही प्रमाद कहते हैं इसलिये, आहारक-द्विक का उदय भी छुठे गुणस्थान तक ही माना जाता है। यद्यपि आहारकशरीर बना लेने के बाद कोई मुनि विशुद्ध अध्यवसाय से फिर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं, तथापि ऐसा बहुत कम होता है इस लिये इसकी विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। इसी से सातवें गुणस्थान में आहारक-द्विक के उदय को गिना नहीं है ॥१४॥ १५॥ १६ ॥१७॥

संमत्तंतिमसंघयण तियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ॥ १८ ॥

भी मनुष्यों को चार गुणस्थान तक ही हो सकता है। पञ्चम-आदि गुणस्थान प्राप्त होने पर, मनुष्यों में ऐसे गुण प्रकट होते हैं कि जिनसे उन में नीच-गोत्र का उदय हो ही नहीं सकता और उच्च-गोत्र का उदय अवश्य हो जाता है। परन्तु तिर्यञ्चों को तो अपने योग्य सब गुणस्थानों में— अर्थात् पाँचों गुणस्थानों में स्वभाव से ही नीचगोत्र का उदय रहता है; उच्च-गोत्र का उदय होता ही नहीं। तथा प्रत्याख्यानावरण चार कषायों का उदय जब तक रहता है तब तक छदंठ गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती; और छट्ठे आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने के बाद भी प्रत्याख्यानावरणकषायों का उदय हो नहीं सकता। इस प्रकार तिर्यञ्च-गति-आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों के विना जिन ७९-कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान में होता है उन में आहारक-शरीर-नामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म, ये दो प्रकृतियाँ और भी मिलानी चाहिये जिससे छट्ठे गुणस्थान में उदय-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ ८१ होती हैं। छट्ठे गुणस्थान में आहारक-शरीर-नामकर्म का तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय उस समय पाया जाता है जिस समय कि कोई चतुर्दश-पूर्वधर-मुनि, लब्धि के द्वारा आहारक-शरीर की रचना कर उसे धारण करते हैं। जिस समय कोई वैक्रिय-लब्धिधारी मुनि, लब्धि से वैक्रिय शरीर को बनाकर उसे धारण करता है उस समय उसको उद्योत-नामकर्म का उदय होता है। क्योंकि शास्त्र में इस आशय का कथन पाया जाता है कि यति को वैक्रिय शरीर धारण करते समय और देव को उत्तर-वैक्रिय शरीर धारण करते समय उद्योत-नामकर्म का उदय हाता है। अब इस जगह यह शङ्का हो सकती है कि जब

[illegible]
नहीं है। [illegible]
कहा है [illegible]
इन पाँच [illegible]
आगे के [illegible]
का उदय [illegible]
में प्रमाद नहीं [illegible]
तथा आहारक [illegible]
शरीर रचनेवाले [illegible]
का प्रयोग करनेवाला [illegible]
जो लब्धि का प्रयोग [illegible] होता है।
उत्सुकता हुई कि स्थिरता या एकाग्रता का भंग हुआ।
एकाग्रता के भंग को ही प्रमाद कहते हैं इसलिये, आहारक-
द्विक का उदय भी छठे गुणस्थान तक ही माना जाता है।
यद्यपि आहारकशरीर बना लेने के बाद कोई मुनि विशुद्ध
अध्यवसाय से फिर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं,
तथापि ऐसा बहुत कम होता है इस लिये इसकी गिनती
आचार्यों ने नहीं की है। इसी से सातवें गुणस्थान में आहा-
रक-द्विक के उदय को गिना नहीं है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

संमत्तंतिमसंघयण तियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ॥ १८ ॥

सगवन्न खीण-दुचरिमि निद्ददुगंतो अ चरिमि पणवन्ना ।
नाणंतरायदंसण-चउछेओ सजोगि बायाला ॥२० ॥

सप्तपञ्चाशत् क्षीणद्विचरमे निद्राद्विकान्तश्च चरमे पञ्चपञ्चाशत् ।
ज्ञानान्तरायदर्शनचतुश्छेदः सयोगिनि द्विचत्वारिंशत् ॥ २० ॥

अर्थ—अतएव बारहवें गुणस्थान में ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय रहता है। ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त—अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय-पर्यन्त पाया जाता है; क्योंकि निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का उदय, अन्तिम समय में नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५७ कर्म-प्रकृतियों में से निद्रा और प्रचला को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। ज्ञानावरणकर्म की ५, अन्तरायकर्म की ५ और दर्शनावरणकर्म की ४—कुल १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय-पर्यन्त ही होता है; आगे नहीं। इससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय की उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से ४१ कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थान से लेकर तीर्थंकर-नामकर्म के उदय का भी सम्भव है। इसलिये पूर्वोक्त ४१, और तीर्थङ्कर-नामकर्म, कुल ४२ कर्म-प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में हो सकता है ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनको ऋषभनाराच-संहनन का या नाराच संहनन का उदय रहता है वे उपशम-श्रेणि को ही कर सकते हैं। उपशम-श्रेणि करनेवाले, ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ही चढ़ सकते हैं; क्योंकि क्षपकश्रेणि [illegible] बिना बारहवें गुणस्थान-

कर शेष ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नवमें गुणस्थान में हो सकता है।

नववें गुणस्थान के प्रारम्भ में ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है। परन्तु अध्यवसायों की विशुद्धि बढ़ती ही जाती है। इससे तीन वेद और संज्वलन-त्रिक, कुल ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नववें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है। अतएव दसवें गुणस्थान में उदय-योग्य प्रकृतियाँ ६० ही रहती हैं। नववें गुणस्थान में वेदत्रिक-आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय-विच्छेद इस प्रकार होता है-यदि श्रेणि का प्रारम्भ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्रीवेद के, पीछे पुरुष-वेद के अनन्तर नपुंसक-वेद के उदय का विच्छेद करके क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को रोकती है। श्रेणिका प्रारम्भ करनेवाला यदि पुरुष होता है तो वह सब से पहले पुरुष-वेद के, पीछे स्त्रीवेद के अनन्तर नपुंसकवेद के उदय को रोक कर क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय का विच्छेद करता है। और श्रेणि को करनेवाला यदि नपुंसक है तो सबसे पहले वह नपुंसक-वेद के उदय को रोकता है; इसके बाद स्त्रीवेद के उदय को तत्पश्चात् पुरुष-वेद के उदय को रोक कर क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को बन्द कर देता है।

दसवें गुणस्थान में ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है। इनमें से संज्वलन-लोभ का उदय, दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। इसी से संज्वलन लोभ को छोड़ कर शेष ५९ कर्म-प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में माना जाता है ॥ १८ ॥ १९ ॥

सगवन्न खीण-दुचरिमि निद्दुगंतो अ चरिमि पणवन्ना ।
नाणंतरायदंसण-चउछेओ सजोगि बायाला ॥२० ॥

सप्तपञ्चाशत् क्षीणद्विचरमे निद्राद्विकान्तश्च चरमे पञ्चपञ्चाशत् ।
ज्ञानान्तरायदर्शनचतुश्छेदः सयोगिनि द्विचत्वारिंशत् ॥ २० ॥

अर्थ—अतएव बारहवें गुणस्थान में ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय रहता है। ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त—अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय-पर्यन्त पाया जाता है; क्योंकि निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का उदय, अन्तिम समय में नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५७ कर्म-प्रकृतियों में से निद्रा और प्रचला को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। ज्ञानावरणकर्म की ५, अन्तरायकर्म की ५ और दर्शनावरणकर्म की ४—कुल १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय-पर्यन्त ही होता है; आगे नहीं। इससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय की उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से ४१ कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थान से लेकर तीर्थंकर-नामकर्म के उदय का भी सम्भव है। इसलिये पूर्वोक्त ४१, और तीर्थङ्कर-नामकर्म, कुल ४२ कर्म-प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में हो सकता है ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनको ऋषभनाराच-संहनन का या नाराच संहनन का उदय रहता है वे उपशम-श्रेणि को ही कर सकते हैं। उपशम-श्रेणि करनेवाले, ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ही चढ़ सकते हैं; क्योंकि क्षपकश्रेणि किये बिना बारहवें गुणस्थान-

कर शेष ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नववें गुणस्थान में हो सकता है।

नववें गुणस्थान के प्रारम्भ में ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है। परन्तु अध्यवसायों की विशुद्धि बढ़ती ही जाती है। इससे तीन वेद और संज्वलन-त्रिक, कुल ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नववें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है। अतएव दसवें गुणस्थान में उदय-योग्य प्रकृतियाँ ६० ही रहती हैं। नववें गुणस्थान में वेदत्रिक-आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय-विच्छेद इस प्रकार होता है-यदि श्रेणि का प्रारम्भ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्रीवेद के, पीछे पुरुष-वेदके अनन्तर नपुंसक-वेदके उदय का विच्छेद करके क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को रोकती है। श्रेणिका प्रारम्भ करनेवाला यदि पुरुष होता है तो वह सब से पहले पुरुष-वेद के, पीछे स्त्रीवेद के अनन्तर नपुंसकवेद के उदय को रोक कर क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय का विच्छेद करता है। और श्रेणि को करने-वाला यदि नपुंसक है तो सबसे पहले वह नपुंसक-वेद के उदय को रोकता है; इसके बाद स्त्रीवेद के उदय को तत्प-श्चात् पुरुष-वेद के उदय को रोक कर क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को बन्द कर देता है।

दसवें गुणस्थान में ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है। इनमें से संज्वलन-लोभ का उदय, दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। इसी से संज्वलन-लोभ को छोड़ कर शेष ५६ कर्म-प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में माना जाता है॥ १८॥ १६॥

ातैकतरं च त्रिंशद्व्युच्छेदः ।
ादेययशोऽन्यतरवेदनीयम् ॥ २२ ॥
ुयाउ गइजिणुच्चंति चरम-समयंतो।
ानुजायुर्गतिजिनोच्चमिति चरमसमयान्तः।

क-द्विक (औदारिक-शरीरनामकर्म तथा-
ङ्गनामकर्म) २, अस्थिर-द्विक (अस्थिर-
ामकर्म)४, खगति-द्विक (शुभविहायोगति-
ुभविहायोगतिनामकर्म) ६, प्रत्येक-त्रिक-
स्थिरनामकर्म और शुभनामकर्म) ९, सम-
रिमंडल, सादि, वामन,कुब्ज और हुण्ड-ये
अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघुनामकर्म, उप-
ाघातनामकर्म और उच्छ्वासनामकर्म)१९,
र्णनामकर्म, गंधनामकर्म, रसनामकर्म और
३,निर्माणनामकर्म २४, तैजसशरीरनामकर्म २५,
ामकर्म २६, प्रथम-संहनन (वज्रऋषभनाराच-
२१ ॥

मकर्म २८,सुस्वरनामकर्म२९ और सातवेदनीय
वेदनीय—इन दो में से कोई एक ३०—ये
ाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक ही
सकती हैं, चौदहवें गुणस्थान में नहीं । अतएव
में से इन ३० कर्म-प्रकृतियों के घट जाने पर
-प्रकृतियाँ चौदहवें गुण[illegible] में रहती हैं । वे १२
ाँ ये हैं—सुभगनामकर्म [illegible] नामकर्म, यशः
र्म, वेदनीयकर्म की [illegible] में से कोई एक
ेक ([illegible] र्म, और

दुःस्वरसुस्वरसातासातैकतरं च त्रिंशद्व्युच्छेदः ।
द्वादशायोगिनि सुभगादेययशोऽन्यतरवेदनीयम् ॥ २२ ॥

तसतिग पणिंदि मणुयाउ गइजिणुच्चंति चरम-समयंतो।
त्रसत्रिकपञ्चेन्द्रियमनुजायुर्गतिजिनोच्चमिति चरमसमयान्तः।

अर्थ—औदारिक-द्विक (औदारिक-शरीरनामकर्म तथा-औदारिक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म) २, अस्थिर-द्विक (अस्थिर-नामकर्म, अशुभनामकर्म)४, खगति-द्विक (शुभविहायोगति-नामकर्म और अशुभविहायोगतिनामकर्म) ६, प्रत्येक-त्रिक-(प्रत्येकनामकर्म, स्थिरनामकर्म और शुभनामकर्म) ९, सम-चतुरस्र,न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन,कुब्ज और हुण्ड-ये छः संस्थान १५, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघुनामकर्म, उप-घातनामकर्म, पराघातनामकर्म और उच्छ्वासनामकर्म)१९, वर्ण-चतुष्क (वर्णनामकर्म, गंधनामकर्म, रसनामकर्म और स्पर्शनामकर्म)२३,निर्माणनामकर्म २४, तैजसशरीरनामकर्म २५, कार्मणशरीर-नामकर्म २६, प्रथम-संहनन (वज्रऋषभनाराच-संहनन) २७ ॥ २१ ॥

दुःस्वरनामकर्म २८,सुस्वरनामकर्म२९ और सातवेदनीय तथा असातवेदनीय—इन दो में से कोई एक ३०—ये तीस प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक ही उदय को पा सकती हैं, चौदहवें गुणस्थान में नहीं। अतएव पूर्वोक्त ४२ में से इन ३० कर्म-प्रकृतियों के घट जाने पर शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में रहती हैं। वे १२ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—सुभगनामकर्म, आदेयनामकर्म, यशः कीर्तिनामकर्म, वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक त्रसत्रिक (त्रसनामकर्म, बादरनामकर्म, और

को प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि श्रेणि को वे ही कर सकते हैं जिनको कि प्रथम वज्रऋषभनाराच संहनन का उदय होता है। इसलिये ग्यारहवें गुणस्थान की उदय योग्य ५९ कर्म-प्रकृतियों में से ऋषभनाराच और नाराच दो संहननों को घटाकर शेष ५७ कर्म प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान में माना जाता है। इन ५७ कर्म प्रकृतियों में से भी निद्रा का तथा प्रचला का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नहीं होता। इस से उन दो कर्म प्रकृतियों को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में माना जाता है। ज्ञानावरण ५ अन्तराय ५ और दर्शनावरण ४, सब मिलाकर १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय से आगे नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के निकल जाने से शेष ४१ कर्म प्रकृतियाँ रहती हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवालों में जो तीर्थंकर होनेवाले होते हैं उनको तीर्थंकरनामकर्म का उदय भी हो जाता है। अतएव पूर्वोक्त ४१ और तीर्थंकरनामकर्म, कुल ४२ कर्म-प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान में उदय को पा सकती हैं ॥ २० ॥

तित्थुदया उरलाथिरखगइदुगपरित्ततिगछसंठाणा ।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥ २१ ॥

तीर्थोदयादौदारिकास्थिरखगतिद्विकप्रत्येकत्रिकषट्संस्थानानि
अगुरुलघुवर्णचतुष्कनिर्माणतेजःकर्मादिसंहननम् ॥२१ ॥

दूसरसूसरसायासाएगयरं च तीस-वुच्छेओ ।
बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥ २२ ॥

गुणस्थान में माना जाता है ॥ १८ ॥ १६

दुःस्वरसुस्वरसातासातैकतरं च त्रिंशद्व्युच्छेदः ।
द्वादशायोगिनि सुभगादेययशोऽन्यतरवेदनीयम् ॥ २२ ॥

तसतिग पणिंदि मणुयाउ गइजिणुच्चंति चरम-समयंतो।
त्रसत्रिकपञ्चेन्द्रियमनुजायुर्गतिजिनोच्चमिति चरमसमयान्तः।

अर्थ—औदारिक-द्विक (औदारिक-शरीरनामकर्म तथा-औदारिक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म) २, अस्थिर-द्विक (अस्थिर-नामकर्म, अशुभनामकर्म)४, खगति-द्विक (शुभविहायोगति-नामकर्म और अशुभविहायोगतिनामकर्म) ६, प्रत्येक-त्रिक-(प्रत्येकनामकर्म, स्थिरनामकर्म और शुभनामकर्म) ९, सम-चतुरस्र,न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन,कुब्ज और हुण्ड-ये छः संस्थान १५, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघुनामकर्म, उप-घातनामकर्म, पराघातनामकर्म और उच्छ्वासनामकर्म)१९, वर्ण-चतुष्क (वर्णनामकर्म, गंधनामकर्म, रसनामकर्म और स्पर्शनामकर्म)२३,निर्माणनामकर्म २४, तैजसशरीरनामकर्म २५, कार्मणशरीर-नामकर्म २६, प्रथम-संहनन (वज्रऋषभनाराच-संहनन) २७ ॥ २१ ॥

दुःस्वरनामकर्म २८,सुस्वरनामकर्म२९ और सातवेदनीय तथा असातवेदनीय—इन दो में से कोई एक ३०—ये तीस प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक ही उदय को पा सकती हैं, चौदहवें गुणस्थान में नहीं। अतएव पूर्वोक्त ४२ में से इन ३० कर्म-प्रकृतियों के घट जाने पर शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में रहती हैं। ये १२ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—सुभगनामकर्म, आदेयनामकर्म, यशः कीर्तिनामकर्म, वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक त्रसत्रिक (त्रसनामकर्म, बादरनामकर्म, और

पर्याप्तनामकर्म, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म, मनुष्य आयु, मनुष्यगति, तीर्थङ्करनामकर्म और उच्चगोत्र-इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक रहता है।

भावार्थ—चौदहवें गुणस्थान में किसी भी जीव को वेदनीयकर्म की दोनों प्रकृतियों का उदय नहीं होता। इस लिये जिस जीव को उन दो में से जिस प्रकृति का उदय, चौदहवें गुणस्थान में रहता है उस जीवको उस प्रकृति के सिवाय दूसरी प्रकृति का उदय-विच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। औदारिक-द्विक-आदि उक्त तीस प्रकृतियों में से वेदनीयकर्म की अन्यतर प्रकृति के सिवा शेष २९ कर्म-प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकिनी (पुद्गल द्वारा विपाक का अनुभव कराने वाली) हैं इनमें से सुस्वरनामकर्म और दुःस्वरनामकर्म—ये दो प्रकृतियाँ भाषा-पुद्गल-विपाकिनी हैं। इस से जब तक वचन योग की प्रवृत्ति रहती है और भाषा-पुद्गलों का ग्रहण तथा परिणमन होता रहता है तभी तक उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है। शेष २७ कर्म-प्रकृतियाँ शरीर पुद्गल विपाकिनी हैं इस लिये उनका भी उदय तभी तक हो सकता है जब तक कि काययोग के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और आलम्बन किया जाता है। तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में ही योगों का निरोध होजाता है। अतएव पुद्गल विपाकिनी उक्त २९ कर्म-प्रकृतियों का उदय भी उसी समय में रुक जाता है। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान में जिन ४२ कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है; उनमें से अन्यतरवेदनीय और उक्त २९ पुद्गल-विपाकिनी—कुल ३०

कर्म-प्रकृतियों को घटा देने से शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। इन १२ कर्म प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। इस के रुक जाते ही जीव, कर्म-मुक्त होकर पूर्ण-सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और मोक्ष को चला जाता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

इति

उदयाधिकार समाप्त।

उदीरणाधिकार

अथ प्रत्येक-गुणस्थान में जितनी जितनी कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा हो सकती है उन्हें दिखाते हैं :—

उदउव्वुदीरणा परमपमत्ताई सगगुणेसु ॥ २३ ॥
उदय इवोदीरणा परमप्रमत्तादिसप्तगुणेषु ॥ २३ ॥

अर्थ—यद्यपि उदीरणा उदय के समान है-अर्थात् जिस गुणस्थान में जितनी कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है उस गुणस्थान में उतनी ही कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा भी होती है। तथापि सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान-पर्यन्त सात गुणस्थानों में उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेष है ॥ २३ ॥

उस विशेष को ही दिखाते हैं :—

एसा पयडि-तिगूणा वेयणियाहारजुगलथीणतीगं ।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥ २४ ॥
एषा प्रकृतित्रिकोना वेदनीयाहारक-युगलस्त्यानर्द्धित्रिकम् ।
मनुजायुः प्रमत्तान्ता अयोग्यनुदीरको भगवान् ॥ २४ ॥

अर्थ—सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान-पर्यन्त, प्रत्येक गुणस्थान में उदीरणा-योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ, उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियों से तीन तीन कम होती हैं; क्योंकि छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में आठ कर्म-प्रकृतियों की

उदय-यन्त्र

	गुणस्थानों के नाम	मूल प्रकृतियां	उत्तर-प्रकृतियां	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीय.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तराय.
	ओघ से	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५
१	मिथ्यात्व में	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५
२	सासादन में	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५
३	मिश्र में	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५
४	अविरत में.	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५
५	देशविरत में	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५
६	प्रमत्त में	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५
७	अप्रमत्त में	८	७६	५	६	२	१४	१	४२	१	५
८	अपूर्वकरण में.	८	७२	५	६	२	१३	१	३९	१	५
९	अनिवृत्ति में	८	६६	५	६	२	७	१	३९	१	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय में.	८	६०	५	६	२	१	१	३९	१	५
११	उपशान्तमोह में	७	५९	५	६	२	०	१	३९	१	५
१२	क्षीणमोह में.	७	५७/५५	५	४/६	२	०	१	३७	१	५
१३	सयोगिकेवली में.	४	४२	०	०	२	०	१	३८	१	०
१४	अयोगिकेवली में.	४	१२	०	०	२	०	१	९	१	०

ुणस्थानों में ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिनसे कि वेदनीय-
्रक की तथा आयु की उदीरणा हो सके । इससे
ातवें-आदि गुणस्थानों में उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य
र्म-प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार होती है:—सातवें
ुणस्थान में उदय ७६ प्रकृतियों का और उदीरणा ७३
कृतियों की। आठवें गुणस्थान में उदय ७२ प्रकृतियों का और
दीरणा ६९ प्रकृतियों की। नववें गुणस्थान में उदय ६६ कर्म-
ृतियों का और उदीरणा ६३ कर्म-प्रकृतियों की। दसवें में
्य-योग्य ६० कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५७ कर्म-
ृतियाँ। ग्यारहवें में उदय-योग्य ५९ कर्म-प्रकृतियाँ और
ीरणा-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियाँ। बारहवें गुणस्थान में
य-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५४ कर्म-
ृतियाँ। और उसी गुणस्थान के अन्तिम-समय में
य-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५२ कर्म-
ृतियाँ तथा तेरहवें गुणस्थान में उदय-योग्य ४२ कर्म-
ृतियाँ और उदीरणा-योग्य ३९ कर्म-प्रकृतियाँ हैं।
दहवें गुणस्थान में किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती;
ोंकि उदीरणा के होने में योग की अपेक्षा है, — उस
स्थान में योग का सर्वथा निरोध ही हो जाता ॥

॥ इति ॥

उदीरणा [illegible]र समाप्तः

उदीरणा तक जाती है। इससे आगे के गुणस्थानों में उन आठ कर्म प्रकृतियों की उदीरणा नहीं होती। ये आठ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—वेदनीय की दो प्रकृतियाँ (२) आहारक-द्विक ४ स्त्यानर्द्धि त्रिक (७) और मनुष्य-आयु (८)। चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान अयोगिकेवलिभगवान् किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं करते ॥ २४ ॥

भावार्थ—पहले से छट्ठे पर्यन्त छः गुणस्थानों में उदीरणा योग्य कर्म प्रकृतियाँ, उदय योग्य कर्मप्रकृतियों के बराबर ही होती हैं। जैसे—पहले गुणस्थान में उदय-योग्य तथा उदीरणा योग्य एक सौ सत्रह कर्म प्रकृतियाँ होती हैं। दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है। तीसरे गुणस्थान में उदय और उदीरणा दोनों ही सौ सौ कर्म-प्रकृतियों के होते हैं। चौथे गुणस्थान में उदय १०४ कर्म-प्रकृतियों का और उदीरणा भी १०४ कर्म प्रकृतियों की होती है। पांचवें गुणस्थान में ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय और ८७ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा होती है। तथा छट्ठे गुणस्थान में उदय योग्य भी ८१ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य भी ८१ ही कर्म प्रकृतियाँ होती हैं। परन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें पर्यन्त सात गुणस्थानों में उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियों की तथा उदीरणा योग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या समान नहीं है। किन्तु उदीरणा-योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ उदय-योग्य कर्म प्रकृतियों से तीन तीन कम होती हैं। इसका कारण यह है कि छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय-विच्छेद आहारकद्विक और स्त्यानर्द्धित्रिक— इन पांच प्रकृतियों का ही होता है। परन्तु उदीरणा-विच्छेद उक्त ५ प्रकृतियों के सिवाय वेदनीयद्विक तथा मनुष्य-आयु-इन तीन प्रकृतियों का भी होता है। छट्ठे गुणस्थान से आगे के

गुणस्थानों में ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिनसे कि वेदनीय-द्विक की तथा आयु की उदीरणा हो सके । इससे सातवें-आदि गुणस्थानों में उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार होती है:—सातवें गुणस्थान में उदय ७६ प्रकृतियों का और उदीरणा ७३ प्रकृतियों की। आठवें गुणस्थान में उदय ७२ प्रकृतियों का और उदीरणा ६६ प्रकृतियों की। नववें गुणस्थान में उदय ६६ कर्म-प्रकृतियों का और उदीरणा ६३ कर्म-प्रकृतियों की। दसवें में उदय-योग्य ६० कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ। ग्यारहवें में उदय-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियाँ । बारहवें गुणस्थान में उदय-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५४ कर्म-प्रकृतियाँ । और उसी गुणस्थान के अन्तिम-समय में उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५२ कर्म-प्रकृतियाँ तथा तेरहवें गुणस्थान में उदय-योग्य ४२ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ३६ कर्म-प्रकृतियाँ हैं। चौदहवें गुणस्थान में किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती; क्योंकि उदीरणा के होने में योग की अपेक्षा है, पर उस गुणस्थान में योग का सर्वथा निरोध ही हो जाता है ॥२४॥

॥ इति ॥

उदीरणाधिकार समाप्तः

उदीरणा रुक जाती है। इससे आगे के गुणस्थानों में उन आठ कर्म प्रकृतियों की उदीरणा नहीं होती। वे आठ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं-वेदनीय की दो प्रकृतियाँ (२) आहारक-द्विक (४) स्त्यानर्द्धित्रिक (७) और मनुष्य-आयु (८)। चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान अयोगिकेवलिभगवान् किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं करते ॥ २४ ॥

भावार्थ—पहले से छट्ठे पर्यन्त छः गुणस्थानों में उदीरणा योग्य कर्म प्रकृतियाँ, उदय योग्य कर्मप्रकृतियों के बराबर ही होती हैं। जैसे पहले गुणस्थान में उदय-योग्य तथा उदीरणा योग्य एक सौ सत्रह कर्म प्रकृतियाँ होती हैं। दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है। तीसरे गुणस्थान में उदय और उदीरणा दोनों ही सौ सौ कर्म-प्रकृतियों के होते हैं। चौथे गुणस्थान में उदय १०४ कर्म-प्रकृतियों का और उदीरणा भी १०४ कर्म प्रकृतियों की होती है। पांचवें गुणस्थान में ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय और ८७ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा होती है। तथा छट्ठे गुणस्थान में उदय योग्य भी ८१ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य भी ८१ ही कर्म प्रकृतियाँ होती हैं। परन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें पर्यन्त सात गुणस्थानों में उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियों की तथा उदीरणा योग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या समान नहीं है। किन्तु उदीरणा योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ उदय-योग्य कर्म प्रकृतियों से तीन तीन कम होती हैं। इसका कारण यह है कि छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय-विच्छेद आहारकद्विक और स्त्यानर्द्धित्रिक— इन पांच प्रकृतियों का ही होता है। परन्तु उदीरणा-विच्छेद उक्त ५ प्रकृतियों के सिवाय वेदनीयद्विक तथा मनुष्य-आयु-इन तीन प्रकृतियों का भी होता है। छट्ठे गुणस्थान से आगे के

क्षायोपशमिक-
अचरमशरीरी
में १४१ कर्म-
त्वी अचरम-
चरमशरीरी
होने पर भी
से उसको

ें आदि

उदीरणा-यन्त्र

	गुणस्थानों के नाम.	मूल-प्रकृतियां.	उत्तर-प्रकृतियां.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.
०	ओघ से.	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५
१	मिथ्यात्व में.	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५
२	सास्वादन मे.	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५
३	मिश्र में.	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५
४	अविरत मे.	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५
५	देशविरत मे.	८	८७	५	९	२	१८	४	४४	२	५
६	प्रमत्त मे.	८	८१	५	९	२	१४	२	४४	२	५
७	अप्रमत्त मे.	६	७३	५	६	२	१४	१	४२	१	५
८	अपूर्वकरण मे.	६	६९	५	६	०	१३	०	३९	१	५
९	अनिवृत्तिबादर मे	६	६३	५	६	०	७	०	३९	१	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय मे.	६	५७	५	६	०	१	०	३९	१	५
११	उपशान्तमोह में.	५	५६	५	६	०	०	०	३९	१	५
१२	क्षीणमोह मे.	५	५५/५४	५	६/४	०	०	०	३७	१	५
१३	सयोगिकेवली मे.	२	३९	०	०	०	०	०	३८	१	०
१४	अयोगिकेवली मे.	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

सत्ताधिकार ।

पहले सत्ता का लक्षण कहकर, अनन्तर प्रत्येक गुणस्थान में सत्ता-योग्य कर्म-प्रकृतियों को दिखाते हैंः—

सत्ता कम्माणठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं ।
संते अडयाल-सयं जा उवसमु विजिणु वियतइए ॥ २५ ॥
सत्ता कर्मणां स्थितिर्बन्धादिलब्धात्मलाभानाम् ।
सत्यष्टाचत्वारिंशच्छतं यावदुपशमं विजिनं द्वितीयतृतीये॥२५॥

अर्थ—कर्म-योग्य जिन पुद्गलों ने बन्ध या संक्रमणद्वारा अपने स्वरूप को (कर्मत्व को) प्राप्त किया है उन कर्मों के आत्मा के साथ लगे रहने को "सत्ता" समझना चाहिये। सत्ता में १४८ कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं । पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ग्यारह गुणस्थानों में से, दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नव गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता नहीं होती ॥ २५ ॥

भावार्थ—बन्ध के समय जो कर्म-पुद्गल जिस कर्म-स्वरूप में परिणत होते हैं उन कर्म-पुद्गलों का उसी कर्म-स्वरूप में आत्मा से लगा रहना यह कर्मों की "सत्ता" कहाती है। इस प्रकार उन्हीं कर्म-पुद्गलों का प्रथम स्वरूप को छोड़ दूसरे कर्म-स्वरूप में बदल, आत्मा से लगा रहना, यह भी "सत्ता" कहलाती है। प्रथम प्रकार की सत्ता-

को 'बन्ध सत्ता' के नाम से और दूसरे प्रकार की सत्ता को 'संक्रमण सत्ता' के नाम से पहचानना चाहिये।

सत्ता में १४८ कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। उदयाधिकार में पाँच बंधनों और ५ संघातनों की विवक्षा जुदी नहीं की है, किन्तु उन दसों कर्म-प्रकृतियों का समावेश पाँच शरीरनामकर्मों में किया गया है। तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शनाम कर्म की एक एक प्रकृति ही विवक्षित है। परन्तु इस सत्ता-प्रकरण में बन्धन तथा संघातननामकर्म के पाँच पाँच भेद शरीरनामकर्म से जुदे गिने गये हैं। तथा वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्शनामकर्म की एक एक प्रकृति के स्थान में, इस जगह ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्शनाम-कर्म गिने जाते हैं। जैसे—(१) औदारिकबन्धननामकर्म, (२) वैक्रियबन्धननामकर्म, (३) आहारकबन्धननामकर्म, (४) तैजसबन्धननामकर्म और (५) कार्मणबन्धननामकर्म—ये पाँच बन्धननामकर्म। (१) औदारिक संघातननामकर्म, (२) वैक्रियसंघातननामकर्म, (३) आहारकसंघातननामकर्म, (४) तैजससंघातननामकर्म और (५) कार्मणसंघातननामकर्म, ये पाँच संघातननामकर्म। (१) कृष्णनामकर्म, (२) नीलनामकर्म, (३) लोहितनामकर्म, (४) हारिद्रनामकर्म और (५) शुक्लनामकर्म—ये पांच वर्णनामकर्म। (१) सुरभिगन्धनामकर्म और दुरभिगन्धनामकर्म ये दो गन्धनामकर्म। (१) तिक्तरसनामकर्म, (२) कटुरसनामकर्म, (३) कषायरसनामकर्म, (४) अम्लरसनामकर्म, (५) मधुररसनामकर्म—ये पांच रसनामकर्म। (१) कर्कशस्पर्शनामकर्म, (२) मृदुस्पर्शनामकर्म, (३) लघुस्पर्शनामकर्म, (४) गुरुस्पर्शनामकर्म, (५) शीतस्पर्शनामकर्म, (६) उष्णस्पर्शनामकर्म, (७) स्निग्धस्पर्शनामकर्म, (८) रूक्षस्पर्शनामकर्म—ये आठ स्पर्श-

नामकर्म। इस तरह उदय-योग्य १२२ कर्म-प्रकृतियों में बन्धन-नामकर्म तथा संघातन-नामकर्म के पांच पांच भेदों को मिलाने से और वर्णादिक के सामान्य चार भेदों के स्थान में उक्त प्रकार से २० भेदों के गिनने से कुल १४८ कर्म-प्रकृतियाँ सत्ताधिकार में होती हैं। इन सब कर्म-प्रकृतियों के स्वरूप को व्याख्या पहिले-कर्मग्रन्थ से जान लेनी चाहिये।

जिसने पहले, नरक की आयु का बन्ध कर लिया है और पीछे से क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व को पाकर उसके बल से तीर्थङ्करनामकर्म को भी बाँध लिया है, वह जीव नरक में जाने के समय सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त करता है। ऐसे जीव की अपेक्षा से ही, पहिले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता मानी जाती है। दूसरे या तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव, तीर्थङ्करनामकर्म को बाँध नहीं सकता; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व ही नहीं होता जिससे कि तीर्थङ्करनामकर्म, बाँधा जा सके। इस प्रकार तीर्थङ्करनामकर्म को बाँध कर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर, दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर नहीं सकता। अतएव कहा गया है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म को छोड़, १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है॥

पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ११ गुणस्थानों में से दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़ कर शेष नव गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही जाती है; सो योग्यता की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि किसी भी जीव को एक समय में दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता हो नहीं सकती; परन्तु योग्यता सब

कर्मों की हो सकती है जिससे सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नहीं है उसका भी बन्ध और सत्ता हो सके। इस प्रकार की योग्यता को सम्भव-सत्ता कहते हैं और वर्तमान कर्म की सत्ता को स्वरूप-सत्ता ॥ २५ ॥

चतुर्थ-आदि गुणस्थानों में प्रकारान्तर से भी सत्ता का वर्णन करते हैं:—

अपुव्वाइ चउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु बियाल-सयं ।
संमाइ चउसु सत्तग-खयंमि इगचत्त सयमहवा ॥ २६ ॥
अपूर्वादिचतुष्केऽनतिर्यग्निरयायुर्विना द्वाचत्वारिंशच्छतम् ।
सम्यगादिचतुर्षु सप्तकक्षय एकचत्वारिंशच्छतमथवा ॥ २६॥

अर्थ—१४८ कर्मप्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क तथा नरक और तिर्यञ्चआयु—इन छः के सिवा शेष १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त चार गुणस्थानों में होती है। तथा अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर शेष १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता चौथे से सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में हो सकती है ॥२६॥

भावार्थ—पञ्चसंग्रह का सिद्धान्त है कि "जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क की विसंयोजना नहीं करता वह उपशम-श्रेणि का प्रारम्भ नहीं कर सकता"। तथा यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि "नरक की या तिर्यञ्च की आयु को बाँध कर जीव उपशम-श्रेणि को नहीं कर सकता"। इन दो सिद्धान्तों के अनुसार १४

माना जाता है; क्योंकि जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क की विसंयोजना कर और देव-आयु को बाँध कर उपशम-श्रेणि को करता है उस जीव को अष्टम आदि ४ गुणस्थानों में १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है। विसंयोजना, क्षय को ही कहते हैं; परन्तु क्षय और विसंयोजना में इतना ही अन्तर है कि क्षय में नष्टकर्म का फिर से सम्भव नहीं होता और विसंयोजना में होता है।

चौथे से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में वर्तमान जो जीव, क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं—अर्थात् जिन्होंने अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय किया है, उन की अपेक्षा से उक्त चार गुणस्थानों में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता मानी गई है। क्षायिक-सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरम शरीरी नहीं हैं—अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को नहीं पा सकते हैं किन्तु जिनको मोक्ष के लिये जन्मान्तर लेना बाकी है—उन जीवों की अपेक्षा से १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिये; क्योंकि जो चरम शरीरी क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं उन को मनुष्य-आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव-सत्ता ॥ २६ ॥

अब क्षपक जीव की अपेक्षा से सत्ता का वर्णन करते हैं।

खवगं तु पप्प चउसुवि पणयालं नरयतिरिसुराउविणा।
सत्तगविणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥

क्षपकं तु प्राप्य चतुर्ष्वपि पञ्चचत्वारिंशन्नरकतिर्यक्सुरायुर्विना
सप्तकं विनाष्टात्रिंशद्यावदनिवृत्तिप्रथमभागः ॥ २७ ॥

कर्मों को हो सकती है जिससे सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नहीं है उसका भी बन्ध और सत्ता हो सके। इस प्रकार की योग्यता को सम्भव-सत्ता कहते हैं और वर्तमान कर्म की सत्ता को स्वरूप-सत्ता ॥ २५ ॥

चतुर्थ आदि गुणस्थानों में प्रकारान्तर से भी सत्ता का वर्णन करते हैं:—

अपुव्वाइ चउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु वियाल-सयं।
संमाइ चउसु सत्तग-खयंमि इगचत्त सयमहवा ॥ २६ ॥
अपूर्वादिचतुष्केऽनतिर्यग्निरयायुर्विना द्वाचत्वारिंशच्छतम् ।
सम्यगादिचतुर्षु सप्तकक्षय एकचत्वारिंशच्छतमथवा ॥ २६॥

अर्थ—१४८ कर्मप्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क तथा नरक और तिर्यञ्चआयु—इन छः के सिवा शेष १४२ कर्म प्रकृतियों की सत्ता आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त चार गुणस्थानों में होती है। तथा अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर शेष १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता चौथे से सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में हो सकती है ॥२६॥

भावार्थ—पञ्चसंग्रह का सिद्धान्त है कि "जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क को विसंयोजना नहीं करता वह उपशम-श्रेणि का प्रारम्भ नहीं कर सकता"। तथा यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि "नरक की या तिर्यञ्च की आयु को बाँध कर जीव उपशम-श्रेणि को नहीं कर सकता"। इन दो सिद्धान्तों के अनुसार १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष

माना जाता है; क्योंकि जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क की विसंयोजना कर और देव-आयु को बाँध कर उपशम-श्रेणि को करता है उस जीव को अष्टम आदि ४ गुणस्थानों में १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है। विसंयोजना, क्षय को ही कहते हैं; परन्तु क्षय और विसंयोजना में इतना ही अन्तर है कि क्षय में नष्टकर्म का फिर से सम्भव नहीं होता और विसंयोजना में होता है।

चौथे से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में वर्तमान जो जीव, क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं—अर्थात् जिन्होंने अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय किया है, उन की अपेक्षा से उक्त चार गुणस्थानों में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता मानी गई है। क्षायिक-सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरम शरीरी नहीं हैं—अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को नहीं पा सकते हैं किन्तु जिनको मोक्ष के लिये जन्मान्तर लेना बाकी है—उन जीवों की अपेक्षा से १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिये; क्योंकि जो चरम शरीरी क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं उन को मनुष्य-आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव-सत्ता ॥ २६ ॥

अब क्षपक जीव की अपेक्षा से सत्ता का वर्णन करते हैं।

खवगंतु पप्प चउसुवि पणयालं नरयतिरिसुरआउविणा।
सत्तगविणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥
क्षपकं तु प्राप्य चतुर्ष्वपि पञ्चचत्वारिंशन्नरकतिर्यक्सुरायुर्विना
सप्तकं विनाष्टात्रिंशद्यावदनिवृत्तिप्रथमभागः ॥ २७ ॥

कर्मों को हो सकती है जिससे सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नहीं है उसका भी बन्ध और सत्ता हो सके। इस प्रकार की योग्यता को सम्भव-सत्ता कहते हैं और वर्तमान कर्म की सत्ता को स्वरूप-सत्ता ॥ २५ ॥

चतुर्थ-आदि गुणस्थानों में प्रकारान्तर से भी सत्ता का वर्णन करते हैं:—

अपुव्वाइ चउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु वियाल-सयं।
संमाइ चउसु सत्तग खयंमि इगचत्त सयमहवा ॥ २६ ॥
अपूर्वादिचतुष्केऽनतिर्यग्निरयायुर्विना द्वाचत्वारिंशच्छतम्।
सम्यगादिचतुर्षु सप्तकक्षय एकचत्वारिंशच्छतमथवा ॥ २६॥

अर्थ—१४८ कर्मप्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क तथा नरक और तिर्यञ्चआयु—इन छः के सिवा शेष १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त चार गुणस्थानों में होती है। तथा अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर शेष १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता चौथे से सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में हो सकती है ॥२६॥

भावार्थ—पञ्चसंग्रह का सिद्धान्त है कि "जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क की विसंयोजना नहीं करता वह उपशम-श्रेणि का प्रारम्भ नहीं कर सकता"। तथा यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि "नरक की या तिर्यञ्च की आयु को बाँध कर जीव उपशम-श्रेणि को नहीं कर सकता"। इन दो सिद्धान्तों के अनुसार १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष

कर्मप्रकृतियों की सत्ता कही हुई है; सो क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वी तथा औपशमिक-सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीव की अपेक्षा से। और जो २६वीं गाथा में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है, सो क्षायिक-सम्यक्त्वी अचरम-शरीरी जीव की अपेक्षा से। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होने का सम्भव रहता ही है, इसीलिये उसको सब आयुओं की सत्ता मानी गई है ॥ २७ ॥

अब क्षपकश्रेणिवाले जीव की अपेक्षा से ही नवें आदि गुणस्थानों में कर्म-प्रकृतियों की सत्ता दिखाई जाती है:—

थावरतिरिनिरयायव-दुगथीणतिगेगविगलसाहारम् ।
सोलखओ दुवीससयं बियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८ ॥
स्थावरतिर्यग्निरयातपद्विकस्त्यानर्द्धित्रिकैकविकलसाधारम् ।
षोडशक्षयो द्वाविंशतिशतं द्वितीयांशे द्वितीयतृतीयकषायान्तः॥

तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहियसय कमसो ।
नपु इत्थि हासछगपुंस तुरिय कोह मयमाय खओ ॥ २९ ॥
तृतीयादिषु चतुर्दशत्रयोदशद्वादशषट्पञ्चचतुस्त्र्यधिकशतं
क्रमशः। नपुंसकस्त्रीहास्यषट्कपुंस्तुर्यक्रोधमदमायाक्षयः॥२९॥

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ ।
नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घन्तो ॥ ३० ॥
सूक्ष्मे द्विशतं लोभान्तः क्षीणद्विचरम एकशतं द्विनिद्राक्षयः ।
नवनवतिश्चरम-समये चतुर्दर्शनज्ञानविघ्नान्तः ॥ ३० ॥

पणसीइ सयोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइ-गंधदुगं ।
फासट्ठवन्नरसतणुबंधणसंघायपणनिमिणं ॥ ३१ ॥

कर्मप्रकृतियों की सत्ता कही हुई है: सो क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वी तथा औपशमिक-सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीव की अपेक्षा से। और जो २६वीं गाथा में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है, सो क्षायिक-सम्यक्त्वी अचरम-शरीरी जीव की अपेक्षा से। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होने का सम्भव रहता ही है, इसीलिये उसको सब आयुओं की सत्ता मानी गई है ॥ २७ ॥

अब क्षपकश्रेणिवाले जीव की अपेक्षा से ही नवयें आदि गुणस्थानों में कर्म-प्रकृतियों की सत्ता दिखाई जाती है:—

थावरतिरिनिरयायव-दुगथीणतिगेगविगलसाहारम्।
सोलखओ दुवीससयं बियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८ ॥
स्थावरतिर्यग्निरयातपद्विकस्त्यानर्द्धित्रिकैकविकलसाधारम्।
षोडशक्षयो द्वाविंशतिशतं द्वितीयांशे द्वितीयतृतीयकषायान्तः॥

तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहियसय कमसो।
नपु इत्थि हासछगपुंस तुरिय कोह मयमाय खओ ॥ २९ ॥
तृतीयादिषु चतुर्दशत्रयोदशद्वादशषट्पञ्चचतुस्त्र्यधिकशतं क्रमशः। नपुंसकस्त्रीहास्यषट्कपुँस्तुर्यक्रोधमदमायाक्षयः॥२९॥

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ।
नयनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घन्तो ॥ ३० ॥
सूक्ष्मे द्विशतं लोभान्तः क्षीणद्विचरम एकशतं द्विनिद्राक्षयः।
नवनवतिश्चरम-समये चतुर्दर्शनज्ञानविघ्नान्तः ॥ ३० ॥

पणसीइ सयोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइ-गंधदुगं।
फासट्ठवन्नरसतणुबंधणसंघायपणनिमिणं ॥ ३१ ॥

१४८ उत्तरप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का गुणस्थान-दर्शक यन्त्र

नंबर	क्रमसे १४८ उत्तरप्रकृतियों के नाम	बन्धयोग्य गुणस्थान	उदययोग्य गुणस्थान	उदीरणायोग्य गुणस्थान	सत्तायोग्य गुणस्थान
	ज्ञानावरणीय—५				
१	मतिज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
२	श्रुतज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
३	अवधिज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
४	मनःपर्यवज्ञाना०	१०	१२	१२	१२
५	केवलज्ञाना०	१०	१२	१२	१२
	दर्शनावरणीय-९				
६	चक्षुर्दर्शनावरणीय	१०	१२	१२	१२
७	अचक्षुर्दर्शना०	१०	१२	१२	१२
८	अवधिदर्शना०	१०	१२	१२	१२
९	केवलदर्शना०	१०	१२	१२	१२
१०	निद्रा	*७ १/७	१ समय न्यून-१२	१२	१ समय न्यून-१२
११	निद्रानिद्रा	२	६	६	८ १/२
१२	प्रचला	७ १/७	१ समय न्यून-१२	१२	१ समय न्यून-१२
१३	प्रचलाप्रचला	२	६	६	८ १/२
१४	स्त्यानर्द्धि	२	६	६	८ १/२

*इस में ७ को पूरा अङ्क और १/७ को एक सप्तमांश, अर्थात ७ गुणस्थान और आठवें के सात हिस्सों में से एक हिस्सा समझना। इस प्रकार दूसरे अङ्कों में भी समझ लेना

	वेदनीयकर्म–२				
१५	सातवेदनीय	१३	१४	६	१४
१६	असातवेदनीय	६	१४	६	१४
	मोहनीयकर्म–२८				
१७	सम्यक्त्वमोहनीय	०	चौथेसेसात तक–४ तीसरा-१	चौथेसेसात तक–४ तीसरा–१	११
१८	मिश्रमोहनीय				
१९	मिथ्यात्वमोहनीय	०			११
२०	अनन्तानुबन्धिक्रोध	१	१	१	११
२१	अनन्तानुबन्धिमान	२	२	२	११
२२	अनन्तानुबन्धिमाया	२	२	२	११
२३	अनन्तानुबन्धिलोभ	२	२	२	११
२४	अप्रत्याख्यानावरणक्रो०	२	२	२	११
२५	अप्रत्याख्यानावरणमान	४	४	४	८
२६	अप्रत्याख्यानावरणमाया	४	४	४	८
२७	अप्रत्याख्यानावरणलोभ	४	४	४	८
२८	प्रत्याख्यानावरणक्रोध	४	४	४	८
२९	" मान	५	५	५	८
३०	" माया	५	५	५	८
३१	" लोभ	५	५	५	८
३२	संज्वलन-क्रोध	५	५	५	८
३३	" मान	८	५	९	८
३४	" माया	८	९	९	८
३५	" लोभ	८	९	९	८
३६	हास्य-मोहनीय	९	९	१०	९
३७	रति "	८	१०	८	१०
३८	अरति "	८	८	८	८
३९	शोक "	९	८	८	८
४०	भय "	८	८	८	८

कोष.

अ

गाथा-अङ्क.	प्राकृत.	संस्कृत.	हिन्दी.
२०	अ	च	और.
४, ५, ६, ६, १०, १२, १४, १५, १८, १६, २०, २३, २४, २८, ३०.	अंत	अन्त	विच्छेद.
२०	अंतराय	अन्तराय	अन्तरायकर्म.
१८	अंतिम	अन्तिम	अन्त का—आखरी
१०, २८,	अंस	अंश	भाग—हिस्सा.
२१	अगुरुलहु	अगुरुलघु	अगुरुलघुनामकर्म.
१०, ३२,	अगुरुलहुचउ	अगुरुलघुचतुष्क	अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, पराघातनाम और उच्छ्वास-नामकर्म.
१५	अजय	अयत	अविरतसम्यग्दृष्टिगु० पृ० १२
७	अजस	अयशः	अयशःकीर्त्तिनामकर्म.
२२, २४, ३१	अजोगि	अयोगिन्	अयोगिकेवलिगु० पृ० २६
२	अजोगिगुण	अयोगिगुण	,,
१७, ३१	अठ	अष्टन्	आठ.
८	अठावण्ण	अष्टापञ्चाशत्	अट्ठावन.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
४	अबंध	अबन्ध	बन्धाभाव.
३	अभिनव	अभिनव	नया.
७	अरइ	अरति	अरतिमोहनीय.
२	अविरय	अविरत	अविरतसम्यग्दृष्टिगु० पृ० १२.
२२	असाअ	असात	असातवेदनीय.
७	अस्साय	असात	,,
३२,३३	असाय	असात	,,
२६	अहवा	अथवा	पक्षान्तर.

आ

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
९	आइ	आदि	आरम्भ.
२३,२५, २६,२६	आइ	आदि	वगैरह.
२२,३३	आइज्ज	आदेय	आदेयनामकर्म.
२१	आइसंघयण	आदिसंहनन	प्रथम—वज्रऋषभनाराच-संहनन.
६,१६,२३	आउ	आयुस्	आयुकर्म.
५	आउय	आयुष्क	,,
८	आगच्छे	आ+गम्-आगच्छेत्	आवे.
५	आगिइ	आकृति	संस्थाननाम.
४,१४	आयव	आतप	आतपनामकर्म.
१८	आयवदुग	आतपद्विक	आतपनामकर्म और उद्योत-नामकर्म.
१३	आहार	आहारक	आहारकशरीर तथा आहा-

गा० प्रा०	सं०	हिं०
२२—उदीरणा	उदीरणा	कर्म-फल का अनुभव
१—उदीरणाया	उदीरणाका	,,
६,२१—उरल	औदार	,,
६—उरलदुग	औदारद्विक	औदारिकशरीरना० औदारिकशरीर और औदारिकअङ्गोपाङ्गनामकर्म.
२,२५—उवसम	उपशम	
१६—उवसंतगुण	उपशान्तगुण	उपशान्तकषायवीतराग-छद्मस्थगुणस्थान. पृ०२२
६—उवंग	उपाङ्ग	,,
३२—उवंगतिग	उपाङ्गत्रिक	अङ्गोपाङ्गनामकर्म. औदारिकअङ्गोपाङ्ग, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग और आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म.
ऊ		
२४—ऊण	ऊन	न्यून.
ए		
२२,२३—एगयर	एकतर	दो में से एक.
२४—एसा	एषा	यह.
ओ		
३—ओह	ओघ	सामान्य
क		
११—[illegible]	क्रम	अनुक्रम.

१४८ उः
और

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१०,३४	आहारगतग	आहारकद्विक	...ङ्गोपाङ्गनाम.
१,८,१०	आहारगदुग	आहारकद्विक	,,
	इ		
१४,२८	इग	एक	,,
२९	इगचत्तसय	एकचत्वारिंश-च्छत	एकेन्द्रियजातिना० एक सौ इकतालीस.
३०	इगसय	एकशत	एक सौ एक.
१७	इगसी	एकाशीति	इक्यासी.
४	इगहिय-सय	एकाधिकशत	एक सौ एक.
१४	इगारसय	एकादशशत	एक सौ ग्यारह.
११	इगंग	एकैक	एक एक.
२६	इत्थी	स्त्री	स्त्रीवेद.
८	इह	इह	इस जगह.
	उ		
१२,२३	उच्च	उच्च	उच्चैर्गोत्र.
१२	उच्छेअ	उच्छेद	विच्छेद.
५,१६	उज्जोय	उद्योत	उद्योत
१३,१५,२३	उदअ	उदय	उदय—कर्म-फल का अनुभव पृ० २
१,२१	उदय	उदय	,,
१३	उदीरणा	उदीरणा	उदीरणा-विपाक-काल प्राप्त न होने पर भी प्रयत्न विशेष से किया जानेवाला

नंबर

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १

प्रकार दूसरे अङ्क भ...

प्रा०	सं०	हिं०
—उदीरणा	उदीरणा	कर्म-फल का अनुभव
—उदीरणया	उदीरणाका	,,
१—उरल	औदार	औदारिकशरीरना०
६—उरलदुग	औदारद्विक	औदारिकशरीर और औदारिकअङ्गोपाङ्गनामकर्म.
२५—उवसम	उपशम	उपशान्तकषायवीतराग-छद्मस्थगुणस्थान. पृ०२२
१६—उवसंतगुण	उपशान्तगुण	,,
६—उवंग	उपाङ्ग	अङ्गोपाङ्गनामकर्म.
३२—उवंगतिग	उपाङ्गत्रिक	औदारिकअङ्गोपाङ्ग, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग और आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म.
	ऊ	
२४—ऊण	ऊन	न्यून.
	ए	
२२,२३—एगयर	एकतर	दो में से एक.
२४—एसा	एषा	यह.
	ओ	
३—ओह	ओघ	सामान्य
	क	
११—कम	क्रम	अनुक्रम.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
३—गहण	ग्रहण	प्राप्ति-सम्बन्ध.
२२—गुण	गुण	गुणस्थान. पृ० ४
१—गुणठाण	गुणस्थान	"
१६,८—गुणसट्ठि	एकोनषष्टि	उनसठ.
च		
७,२२—च	च	और.
११,२६,२७—चउ	चतुर्	चार.
२६—चउक्क	चतुष्क	चार का समुदाय.
२६—चउदस	चतुर्दशन्	चौदह.
१२,३०—चउदंसण	चतुर्दर्शन	४दर्शनावरण—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण
५—चउसयरि	चतुःसप्तति	चौहत्तर.
१५—चउसय	चतुःशत	एक सौ चार.
१०,२३—चरम	चरम	अन्तिम.
३३,३४—चरिम	चरम	"
छ		
७,१६ / २१,२६—छ	षष्	छह.
३२—छक्क	षट्क	छह का समुदाय.
६—छप्पन्न	षट्पञ्चाशत	छप्पन.
१०—छल	षष्ट	छठा.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
२५—तइअ	तृतीय	तीसरा.
२६—तइय	तृतीय	,,
६,३१—तणु	तनु	शरीरनामकर्म
३—तत्थ	तत्र	इस में.
२३,३३—तसतिग	त्रसत्रिक	त्रसनाम, बादरनाम और पर्याप्तनामकर्म.
९—तसनव	त्रसनवक	त्रसआदि ९ प्रकृतियाँ पृ.४५
१—तह	तथा	इसी प्रकार.
३४—तं	तं	इस को.
१२,१३—ति	इति	स्वरूप-बोधक.
१०—ति	त्रि	तीन.
५—ति	इति	स्वरूप-बोधक.
६—तिअकसाय	तृतीयकषाय	प्रत्याख्यानावरण.
१६—तिकसाय	तृतीयकषाय	,,
२४—तिग	त्रिक	तीन का समुदाय.
२१—तित्थ	तीर्थ	तीर्थङ्करनामकर्म
३—तित्थयर	तीर्थङ्कर	,,
१८—तियग	त्रिक	तीन का समुदाय.
२८—तियकसाय	तृतीयकषाय	प्रत्याख्यानावरण कषाय.
४,२६, २७,२८—तिरि	तिर्यंच्	तिर्यञ्च.
१६—तिरिगइ	तिर्यग्गति	तिर्यञ्चगतिनामकर्म.
१६—तिरिआणुपुव्वी	तिर्यगानुपूर्वी	तिर्यञ्चआनुपूर्वीना०.
२६—तिउत्तरसय	त्र्यधिकशत	एक सौ तीन.
१०,२२—तीस	त्रिंशत	तीस.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१३,२८—दुवीस-सय	द्वाविंशति-शत	एक सौ बाईस.
३०—दुसय	द्विशत	एक सौ दो.
१६—दुहग	दुर्भग	दुर्भगनामकर्म.
४—दुहगतिग	दुर्भगत्रिक	दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म और अनादेयनामकर्म.
२२—दुसर	दुःस्वर	दुःस्वरनामकर्म.
३१—देव	देव	देव.
३४—देविंद	देवेन्द्र	देवों का इन्द्र तथा श्रीदेवेन्द्रसूरि.
२,१६—देस	देश	देशविरतगुणस्थान पृ०१४

न

गा० प्रा०	सं०	हिं०
४,२६—नपु	नपुंसक	नपुंसकवेद.
३४—नमह	नम्—नमत	नमन करो.
३४—नरयाणुपुव्वी	नरानुपूर्वी	मनुष्य आनुपूर्वी.
६—नरतिग	नरत्रिक	नरगति, नरानुपूर्वी और नरायु
२७—नरय	नरक	नरक
४—नरयतिग	नरकत्रिक	नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु.
३०—नवनवइ	नवनवति	निन्यानवे.
२०,३०—नाण	ज्ञान	ज्ञानावरण.
१२—नाणविग्ध-दसग	ज्ञानविघ्नदशक	पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तराय कर्म.
५,१६—निय	नीच	नीचगोत्र.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
११,२८	दुवीस-सय	द्वाविंशति-शत	एक सौ बाईस.
३०	दुसय	द्विशत	एक सौ दो.
१६	दुहग	दुर्भग	दुर्भगनामकर्म.
४	दुहगतिग	दुर्भगत्रिक	दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म और अनादेयनामकर्म.
२२	दूसर	दुःस्वर	दुःस्वरनामकर्म.
३१	देव	देव	देव.
३४	देविंद	देवेन्द्र	देवों का इन्द्र तथा श्रीदेवेन्द्रसूरि.
२,१६	देस	देश	देशविरतगुणस्थान पृ०१४

न

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
४,२६	नपु	नपुंसक	नपुंसकवेद.
३४	नमह	नम्–नमत	नमन करो.
३४	नरअणुपुव्वी	नरानुपूर्वी	मनुष्य-आनुपूर्वी.
६	नरतिग	नरत्रिक	नरगति, नरानुपूर्वी और नरायु
२७	नरय	नरक	नरक
४	नरयतिग	नरकत्रिक	नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु.
३०	नवनवइ	नवनवति	निन्यानवे.
२०,३०	नाण	ज्ञान	ज्ञानावरण.
१२	नाणविग्घ-दसग	ज्ञानविघ्नदशक	पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तराय कर्म.
५,१६	निय	नीच	नीचगोत्र.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
११,२८	दुवीस-सय	द्वाविंशति-शत	एक सौ बाईस.
३०	दुसय	द्विशत	एक सौ दो.
१६	दुहग	दुर्भग	दुर्भगनामकर्म.
४	दुहगतिग	दुर्भगत्रिक	दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म और अनादेयनामकर्म.
२२	दूसर	दुःस्वर	दुःस्वरनामकर्म.
३१	देव	देव	देव.
३४	देविंद	देवेन्द्र	देवों का इन्द्र तथा श्रीदेवेन्द्रसूरि.
२,१६	देस	देश	देशविरतगुणस्थान पृ०१४

न

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
४,२६	नपु	नपुंसक	नपुंसकवेद.
३४	नमह	नम्—नमत	नमन करो.
३४	नरअणुपुव्वी	नरानुपूर्वी	मनुष्य-आनुपूर्वी
६	नरतिग	नरत्रिक	नरगति, नरानुपूर्वी. और नरायु
२७	नरय	नरक	नरक
४	नरयतिग	नरकत्रिक	नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु.
३०	नवनवइ	नवनवति	निन्यानवे.
२०,३०	नाण	ज्ञान	ज्ञानावरण.
१२	नाणविग्घ-दसग	ज्ञानविघ्नदशक	पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तराय कर्म.
५,१६	निय	नीच	नीचगोत्र.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१,७—पमत्त १७,२४,	प्रमत्त	प्रमत्तसंयतगु०पृ० १५
२४—पयडि	प्रकृति	प्रकृति.
२३—परं	परम्	निरंपता.
२२—परित्त	प्रत्येक	प्रत्येकनाम०
२१—परित्ततिग	प्रत्येकत्रिक	प्रत्येकनाम, स्थिरनाम. और शुभनामकर्म.
११—पुम	पुँस्	पुरुषवेद.
२६—पुंस	पुँस्	,,

फ

गा० प्रा०	सं०	हिं०
३१—फास	स्पर्श	स्पर्शनामकर्म.

ब

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१,२—बंध	बन्ध	बन्ध. पृ० १
३१—बंधण	बन्धन	बन्धननामकर्म.
८—बंधंतु	बन्ध्—बध्नत्	बाँधता हुआ.
१०—बायाला	द्विचत्वारिंशत्	बयालीस.
१६—बार	द्वादशन्	बारह.
२२,३४—बारस	,,	,,
२५,१८—बिय	द्वितीय	दूसरा.
६,१५—बियकसाय	द्वितीयकषाय	अप्रत्याख्यानावरण
२६—बियाल-सय	द्वाचत्वारिंशच्छत	एक सौ बयालीस.
१६—बिसत्तरि	द्वासप्तति	बहत्तर.
३३—बिसयरि	,,	,,

गा०	प्रा०	सं०	हि०
	भ		
[illegible]	भगव	भगवान्	भगवान्
[illegible]	भय	भय	भयमोहनीय.
[illegible]	भाग	भाग	हिस्सा.
[illegible]	भेय	भेद	विच्छेद.
	म		
[illegible]	मज्झ	मध्य	भीतर.
१६	मणु	मनुज	मनुष्य.
[illegible]	मणुय	,,	,,
[illegible]	मणुयाउ	मनुजायुस्	मनुष्य-आयु.
२०	मय	मद	मानकषाय.
[illegible]	माया,	माया,	मायाकषाय.
[illegible] ३, १३, १४	मिच्छा	मिथ्या	मिथ्यादृष्टिगु० पृ० ५.
४, १४	मिच्छा	मिथ्या	मिथ्यात्वमोहनीय
२, ५, १५	मीस	मिश्र	सम्यग्मिथ्यादृष्टिगु० पृ० १२
१३, १५	मीस	मिश्र	मिश्रमोहनीय.
	य		
३३	य	च	पुनः, फिर.
	र		
१०	रइ	रति	रतिमोहनीय.
३१	रस	रस	रसनामकर्म.
१६	रिसहनारायदुग	ऋषभनाराचद्विक	ऋषभनाराचसं० और नाराचसंहनन.

१३—उदारण

न होने पर

गा० प्रा०	सं०	हिं०
	ल	
२५—लद्ध	लभ्-लब्ध	प्राप्त.
३०—लोह	लोभ	लोभकषाय.
	व	
२३—व्व	इव	समान.
७,३२—व	वा	अथवा.
६—वइर	वज्र	वज्रऋषभनाराच सं०
३—वज्ज	वर्ज-वर्ज्य	छोड़कर
१०—वराण	वर्ण	वर्णनामकर्म.
३४—वंदिय	वन्द्-वन्दित	वन्दन किया हुआ.
३१—वन्न	वर्ण	वर्णनामकर्म.
२१—वन्नचउ	वर्णचतुष्क	वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम और स्पर्शनाम-कर्म.
३२,३४—वा	वा	अथवा.
२७—वि	अपि	भी
१६—विउवट्ठ	वैक्रियाष्टक	देवगति आदि ८ प्रकृतियाँ पृ० ५४.
३०—विग्घ	विघ्न	अन्तराय.
१४,२८—विगल	विकल	विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रियतक) जातिनामकर्म.
२५—विजिण	विजिन	जिननामकर्मके सिवाय.
२७,३४—विणा	विना	सिवाय.
६,२६,२७—विणु	विना	छोड़कर.
१३—विवाग	विपाक	फल.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१,२५—सत्ता	सत्ता	सत्ता—आत्मा के साथ लगे हुये कर्मोंका अस्तित्व.
१०—समचउर	समचतुरस्र	समचतुरस्र सं०
३०—समय	समय	दूसरा हिस्सा न किया जा सके ऐसा सूक्ष्म काल
२३,२४—समय	समय	”
१५—सय	शत	सौ.
१—सयल	सकल	सब.
३१—सयोगि	सयोगिन्	सयोगिकेवलिगु०
२,१८,३२-संघयण	संहनन	संहनननामकर्म.
३१—संघाय	संघातन	संघातननामकर्म.
११—संजलण	सञ्ज्वलन	सञ्ज्वलनकषाय.
१६—संजलणतिग	सञ्ज्वलनत्रिक	संज्वलन क्रोध, मान और माया.
३२,२१—संठाण	संस्थान	संस्थाननामकर्म.
२५—संत	सत्	सत्ता.
६,२६—सम्म	सम्यच्	अविरतसम्यग्दृष्टिगु० पृ० १२
१३,१५—सम्म	सम्यच्	सम्यक्त्वमोहनीय.
१८—सम्मत्त	सम्यक्त्व	”
१२,२२ / ३२,३३—साय	सात	सातवेदनीय.
२,५,१४—सासण	सास्वादन	सास्वादनसम्यग्दृष्टि गु० पृ० ६
२८—साहार	साधारण	साधारणना०

गा० प्रा०	सं०	हिं०
२,२५—सन्ना	सत्ता	सत्ता—आत्मा के साथ लगे हुये कर्मोंका अस्तित्व.
१०—समचउर	समचतुरस्र	समचतुरस्र सं०
३०—समय	समय	दूसरा हिस्सा न किया जा सके ऐसा सूक्ष्म काल
२३,२४—समय	समय	"
१५—सय	शत	सौ.
१—सयल	सकल	सब.
३१—सयोगि	सयोगिन्	सयोगिकेवलिगु०
५,१८,२२-संघयण	संहनन	संहनननामकर्म.
३१—संघाय	संघातन	संघातननामकर्म.
११—संजलण	सञ्ज्वलन	सञ्ज्वलनकषाय.
१६—संजलणतिग	सञ्ज्वलनत्रिक	संज्वलन क्रोध,मान और माया.
२२,३१—संठाण	संस्थान	संस्थाननामकर्म.
२५—संत	सत्	सत्ता.
६,२६—सम्म	सम्यच्	अविरतसम्यग्दृष्टिगु० पृ० १२
१३,१५—सम्म	सम्यच्	सम्यक्त्वमोहनीय.
१८—सम्मत्त	सम्यक्त्व	"
१२,२२ ३२,३३ }—साय	सात	सातवेदनीय.
२,५,१४—सासण	सास्वादन	सास्वादनसम्यग्दृष्टि गु० पृ० ६
२८—साहार	साधारण	साधारणना०

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१,२५	सत्ता	सत्ता	सत्ता—आत्मा के साथ लगे हुये कर्मोंका अस्तित्व.
१०	समचउर	समचतुरस्र	समचतुरस्र सं०
३०	समय	समय	दूसरा हिस्सा न किया जा सके ऐसा सूक्ष्म काल
२३,२४	समय	समय	,,
१५	सय	शत	सौ.
१	सयल	सकल	सब.
३१	सयोगि	सयोगिन्	सयोगिकेवलिगु०
५,१८,३२	संघयण	संहनन	संहनननामकर्म.
३१	संघाय	संघातन	संघातननामकर्म.
११	संजलण	सञ्ज्वलन	सञ्ज्वलनकषाय.
१६	संजलणतिग	सञ्ज्वलनत्रिक	संज्वलन क्रोध, मान और माया.
३२,२१	संठाण	संस्थान	संस्थाननामकर्म.
२५	संत	सत्	सत्ता.
६,२६	सम्म	सम्यच्	अविरतसम्यग्दृष्टिगु० पृ० १२
१३,१५	सम्म	सम्यच्	सम्यक्त्वमोहनीय.
१८	सम्मत्त	सम्यक्त्व	,,
१२,२२ ३२,३३	साय	सात	सातवेदनीय.
२,५,१४	सासण	सास्वादन	सास्वादनसम्यग्दृष्टि गु० पृ० ६
२८	साहार	साधारण	साधारणना०

'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रन्थ की मूलगाथायें ।

तह थुणिमो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बंधुदओदीरणया-सत्तापत्ताणि खवियाणि ॥ १ ॥

मिच्छे सासण-मीसे, अविरय-देसे पमत्त-अपमत्ते ।
नियट्टिअनियट्टि सुहुमु-वसमखीण सजोगिअजोगिगुणा ॥२॥

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीससयं ।
तित्थयराहारगदुग-वज्जं मिच्छम्मि सत्तरसयं ॥ ३ ॥

नरयतिग जाइथावर-चउहुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसय, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥ ४ ॥

अणमज्झागिइसंघय-णचउनिउज्जोयकुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउअअबंधा ॥ ५ ॥

सम्मे सगसयरिजिणा-उबंधि वइर नरतिगबिअकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥ ६ ॥

तेवट्ठि पमत्ते सो-ग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अपमत्ते, सुराउ बंधंतु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥

अडवन्न अपुव्वाइम्मि, निद्ददुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुगपणिंदिसुखगइ तसनव उरल विणु तणुवंगा ॥ ९ ॥

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
	१४—सिद्धि	सिद्धि	मोक्ष
	१—सुहखगइ	सुखगति	शुभविहायोगतिना०
	२२,२४ सुभग	सुभग	सुभगनामकर्म.
	६—सुरदुग	सुरद्विक	देवगति और देवानुपूर्वी.
	३८,२०—सुराउ	सुरायुष	देवआयु.
	३२—सुसर	सुस्वर	सुस्वरनामकर्म
१७,२४ २,८,१०	२२,१ / १५,३० | सुहुम	सूक्ष्म	सूक्ष्मसम्परायगु० पृ. २२
१४,२	१४—सुहुमतिग	सूक्ष्मत्रिक	सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम और साधारणनाम.
२	२२—सुसर	सुस्वर	सुस्वरनामकर्म.

ह

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
	१०—हास	हास्य	हास्यमोहनीय.
	२६—हासछग	हास्यषट्क	हास्यमोहनीय आदि ६ प्रकृतियाँ पृ० ६२.
	१८—हासाइछक्क	हास्यादिषट्क	"
	११—हीण	हीन	रहित.
	४—हुंड	हुण्ड	हुण्डसंस्थानना०

१३—उदारय

न होने
प

सगवन्न खीणदुचरिमि, निद्ददुगंतो अचरिमि * पणपन्ना।
नाणंतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि बायाला॥२०॥

तित्थुदया उरलाथिर-खगइदुग परित्ततिग छ संठाणा।
अगुरुलहुवन्नचउ निमि-णतेयकम्माइसंघयणं॥२१॥

दूसर सूसर साया-साएगयरं च तीस वुच्छेओ।
बारस अजोगि सुभगा-इज्जजसन्नयरवेयणियं॥ २२ ॥

तसतिग पणिंदि मणुया-उगइ जिणुच्चं ति चरमसमयंतो।
उदउव्वुदीरणा पर-मपमत्ताई सगगुणेसु ॥ २३ ॥

एसा पयडितिगूणा, वेयणियाहारजुगलथीणतिगं।
मणुयाउ पमत्तंता, अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥ २४ ॥

सत्ता कम्माण ठिई, बंधाईलद्धअत्तलाभाणं।
संते अडयालसयं, जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥ २५ ॥

अपुव्वाइचउक्के अण-तिरिनिरयाउ विणु बियालसयं।
सम्माइचउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्तसयमहवा॥ २६ ॥

खवगं तु पप्प चउसु वि, पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा।
सत्तग विणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥

थावरतिरिनिरयायव-दुग थीणतिगेग विगलसाहारं।
सोलखओ दुवीससयं, बियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८ ॥

* "पणवन्ना" इत्यपि पाठः

संस्करण

भाषा